

सुखी होने का उपाय

भाग - 1



नेमीचन्द पाटनी

प्रथम तीन संस्करण (26 अप्रैल, 92 से अद्यतन)	:	11 हजार 400
चतुर्थ संस्करण (15 अगस्त, 2007)	:	1 हजार
योग	:	<u>12 हजार 400</u>

मूल्य : सात रुपये

इस कृति की कीमत करने हेतु श्री रवीन्द्र पाटनी चैरिटेबल ट्रस्ट मुम्बई द्वारा 2605/- रुपए प्रदान किये गए हैं, इसके लिए ट्रस्ट आपका हृदय से आभारी है।

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

सुखी होने का उपाय

भाग-१

(वस्तुस्वभाव एवं विश्वव्यवस्था)

लेखक :

नेमीचन्द्र पाटनी

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४ बापूनगर, जयपुर ३०२०१५

विषय-सूची

दो शब्द	४
अपनी बात	५
विषय प्रवेश	९
धर्म एवं धर्म समझने की प्रक्रिया	२६ से ६७
धर्म किसको करना है	२६
मैं कौन हूँ	२७
धर्म कहाँ होता है	२९
अधर्मभाव कहाँ होता है	३०
धर्म प्राप्त करने का मार्ग	३१
धर्म का स्वरूप क्या है 'वस्तु सहावो धम्मो'	३२
वस्तु क्या है	३२
सत्द्रव्यलक्षणम्	३४
गुणपर्यायवद्द्रव्यं	३६
स्वतंत्रता	३७
गुण क्या है ?	४०
पर्याय क्या है ?	४२
चार अभाव के माध्यम से स्वतंत्रता	४५
वस्तु के स्वभाव को धर्म क्यों कहा गया	४८
स्वभाव से विपरीत परिणमन करने वाली	
वस्तुएं कौन-कौनसी हैं ?	५०
जीव नामक वस्तु का स्वभाव	५२
ज्ञान स्वभाव के निर्णय से धर्म की उत्पत्ति	५६
स्वचतुष्टय में परचतुष्टय की नास्ति	५८
ज्ञान पर्याय स्वपर प्रकाशक है वह कैसे	६०
आत्मा के धर्म की प्रगटता	६१
ज्ञान का स्वभाव ही स्व के साथ पर को भी जानना है	६२
'वस्तु सहावो धम्मो' विषय का उपसंहार	६४
परतंत्रता द्योतक कथन एवं स्पष्टीकरण	६७ से ११२
वस्तु का परिणमन स्वतंत्र होने पर भी परतंत्रता कैसे ?	६८
स्वतंत्र होने पर भी परतंत्र दिखने का कारण क्या ?	६८
वस्तु व्यवस्था एवं विश्व व्यवस्था	६९

विश्व व्यवस्था में पाँच अचेतन द्रव्यों की व्यवस्था	७०
विश्व व्यवस्था में जीव द्रव्य की स्थिति	७२
उपरोक्त द्रव्यों में आपसी सम्बन्ध क्या और कैसे	७४
निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध	७६
निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध माना ही न जावे तो	७७
निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कर्ता- कर्म सम्बन्ध का अन्तर	७९
निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध में पराधीनता का निराकरण	८०
जीवद्रव्य में निमित्त-नैमित्तिकपना	८५
निमित्त-नैमित्तिक शब्द द्वारा भ्रम	९०
संयोगीदृष्टि एवं स्वभावदृष्टि	९०
स्वभाव दृष्टि वीतरागता की एवं संयोगीदृष्टि	
सरागता की उत्पादक	९२
पाँच समवाय व कार्य की सम्पन्नता	९१
मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ की मुख्यता	९६
कर्मोदय में आत्मा का पुरुषार्थ अकार्यकारी	
कहने वाले कथनों का अभिप्राय	९७
काललब्धि के अभाव में पुरुषार्थ अकार्यकारी	
कथन का अभिप्राय	९८
मोक्षमार्ग प्राप्त करने का पुरुषार्थ तत्त्व निर्णय	१०१
तत्त्वनिर्णय करना अथवा आत्मा के ज्ञायक	
अकर्ता स्वभाव का निर्णय करना	१०३
जिनवाणी में आत्मा को कर्ता भी कहा है वह कैसे ?	१०५
रागादि उत्पन्न कैसे होते हैं ?	१०७
आत्मा को रागादि का कर्ता ही नहीं माना जाये तो क्या हानि ?	११०
आत्मा को सिद्ध समान मानना अथवा रागी-द्वेषी मानना	१११

दो शब्द

आदरणीय पाटनीजी द्वारा लिखित 'सुखी होने का उपाय' नामक इस कृति की विषय-वस्तु तीन भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में पर से भिन्न भगवान आत्मा की चर्चा है, दूसरे भाग में पर्याय से भिन्न गुणभेद से भिन्न भगवान आत्मा की चर्चा होगी और तीसरे भाग में पर, पर्याय और गुणभेद से भिन्न निज भगवान आत्मा की पहिचान एवं यथार्थ निर्णय करने की बात होगी।

भेद विज्ञान मूलक इस कृति के प्रथम भाग में समस्त पर पदार्थों से हटाकर प्रमाण के विषयभूत गुण पर्यायात्मक निजद्रव्य में लाकर स्थापित करने का प्रयास है; दूसरे भाग में अपनी आत्मा में ही उत्पन्न विकारी-अविकारी पर्यायों एवं अनन्त गुणों के विकल्पों से पार त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा तक पहुँचाने का प्रयास होगा। तीसरे भाग में इस विकल्पात्मक सम्यक् निर्णय की यथार्थता कैसे हो? — यह बताने का प्रयास किया जायेगा।

यह तो सर्वविदित ही है कि पाटनीजी ने आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी का समागम पूरी श्रद्धा और लगन के साथ लगातार ४० वर्ष तक किया है। वे भाषा के पण्डित भले ही न हों, पर जैन तत्त्वज्ञान का मूल रहस्य उनकी पकड़ में पूरी तरह है। स्वामीजी द्वारा प्रदत्त तत्त्वज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने के काम में वे विगत तीस-पैंतीस वर्षों से नींव का पत्थर बनकर लगे हुए हैं; विगत २२ वर्षों से मेरा भी उनसे प्रतिदिन का घनिष्ठ सम्पर्क है। अतः उनकी अन्तर्भावना को मैं भलीभाँति पहचानता हूँ।

अभिनन्दनपत्र भी न लेने की प्रतिज्ञाबद्ध श्री पाटनीजी ने यह कृति लेखक बनने की भावना से नहीं लिखी; अपितु अपने उपयोग की शुद्धि के लिए ही उनका यह प्रयास है; उनके इस प्रयास से समाज को सहज ही सम्यक् दिशाबोधक यह कृति प्राप्त हो गई है।

यह तो मात्र प्रथम भाग है, — उनके भाव आप सब तक उनकी ही भाषा में हूबहू पहुँचें — इस भावना से उनमें कुछ भी करना उचित नहीं समझा गया। अतः विद्वज्जन भाषा पर न जावें, अपितु उनके गहरे अनुभव का पूरा-पूरा लाभ उठावें—ऐसा मेरा विनम्र अनुरोध है।

अपने अनुभवों को लिपिबद्ध करने का अनुरोध मैं उनसे समय-समय पर करता रहा हूँ, तथापि उन्होंने कभी इस ओर ध्यान नहीं दिया; वे तो आचार्यों के मूल ग्रंथों, स्वामीजी के प्रवचनों और उनके आधार पर तैयार की गई विद्वानों की कृतियों के प्रकाशन और प्रचार-प्रसार में ही लगे रहे; अब जब शरीर शिथिल हो रहा है और दौड़-धूप सहज ही कम होती जा रही है; तब अपनी उपयोग की शुद्धि के लिए उनका ध्यान इस ओर गया है। हम उनके स्वस्थ एवं मंगल जीवन की कामना करते हैं कि जिससे उनकी सेवाओं और कृतियों का अधिकाधिक लाभ मुमुक्षु समाज को प्राप्त हो सके।

— डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

अपनी बात

मैंने इस लघु पुस्तिका का प्रकाशन कई वर्षों पूर्व सन् १९८७ में जैनपथप्रदर्शक में एक लेखमाला के रूप में प्रारम्भ किया था, मुझे अनुमान भी नहीं था कि यह लेखमाला पुस्तिका का रूप ग्रहण कर लेगी, मैंने इसको लेख के रूप में विषय को संक्षिप्त रूप से लिखने से प्रारम्भ किया था लेकिन कुछ पाठकों ने मुझे इसके विशेष स्पष्टीकरणपूर्वक विस्तार करने के लिये प्रोत्साहित किया, फलतः इस लेखमाला ने एक पुस्तिका का स्थान प्राप्त कर लिया। यही कारण है कि प्रकाशित लेखमाला से इस पुस्तिका का विषय बहुत कुछ परिवर्तित भी हो गया है।

कुछ वर्षों पूर्व मैंने एक लघु पुस्तिका 'पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक एवं उसकी ग्यारह प्रतिमाएँ' लिखी थी और वह सन् १९७२ से पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित होकर ५००० की संख्या में समाज के पास पहुँच ही चुकी है, उसके कुछ समय पश्चात् ही 'णमो लोए सव्वसाहूणं' नाम की दूसरी लघु पुस्तिका का भी सन् १९८६ में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित होकर अभी तक ८२०० की संख्या में समाज को उपलब्ध हो चुकी है। उसी समय से मेरे मन में यह भावना थी कि पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक एवं षष्ठम्, सप्तम् गुणस्थान स्थित साधु परमेष्ठी की अन्तर्बाह्य दशा बताने वाली लघु पुस्तिका तो प्रकाशित हो गई लेकिन मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यक्त्व प्राप्त करने की पात्रता एवं विधि बतलाने वाली पुस्तिका भी तैयार होनी चाहिए, जिसके द्वारा मिथ्यात्व का अभाव करके अत्यन्त दुर्लभातिदुर्लभ चतुर्थ गुणस्थान की अवस्था प्राप्त करने का सुगम उपाय आत्मारथी जीव को प्राप्त हो सके। मन के अन्दर छुपी इस भावना से ही इस लेखमाला ने इस पुस्तिका का रूप धारण किया, अतः मैंने मेरी बुद्धिक्षमता और गुरुउपदेश के माध्यम से तथा जिनवाणी की कृपा से उसके अध्ययन से जो कुछ भी प्राप्त किया है उसके आधार पर तथा अपने स्वयं की बुद्धिरूपी कसौटी पर परखकर यथार्थ निर्णय में आया और सम्यक् अनुमान ज्ञान के द्वारा अनुभव में लाकर परीक्षा कर जो भी यथार्थ निर्णय प्राप्त हुआ, इस पुस्तिका के माध्यम से आत्मारथी बन्धुओं को समर्पण करने का प्रयास किया है, अगर इसमें कहीं कोई कमी रह गई अथवा भूल हो गई हो तो वह मेरी बुद्धि का दोष मानकर विशेष अनुभवी मुमुक्षु बन्धु क्षमा करें एवं अपने अनुभव से परखकर आगम की साक्षीपूर्वक उचित सुधार लेवें वर्तमान काल में तो आगम ही आधार है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस पुस्तिका में प्रकाशित मार्ग ही संसार में भटकते प्राणी को संसार भ्रमण से छुटकारा प्राप्त कराने का यथार्थ मार्ग है। मैं स्वयं अनादि काल से भटकता हुआ दिग्भ्रमित प्राणी था, यथार्थ मार्ग प्राप्त करने के लिए दर-दर की ठोकें खाता फिरता था, सबही अपने चिन्तन को ही सच्चा मार्ग कहते थे लेकिन किसी के पास रंचमात्र भी शान्ति प्राप्त कराने का मार्ग नहीं था। ऐसी कठिन परिस्थितियों में मेरे सद्भाग्य का उदय हुआ और न

जाने कहाँ-कहाँ भटकता हुआ सन् १९४३ में प्रातः स्मरणीय महान् उपकारी पूज्य श्री कानजीस्वामी का मेरे भाग्ययोग से समागम प्राप्त हो गया, कुछ वर्षों तक तो उनके भी बताये मार्ग पर भी पूर्ण निःशंकाता प्राप्त नहीं हुई तब तक भी इधर-उधर भटकता रहा। अन्ततोगत्वा सबही तरह से स्थूलरूप से परीक्षा कर यह दृढ़ निश्चय हो गया कि आत्मा को शान्ति प्राप्त करने का मार्ग अगर कोई हो सकता है तो मात्र एक यही है अन्य कोई मार्ग नहीं हो सकता है ऐसे विश्वास एवं पूर्ण समर्पणता के साथ उनके सत्समागम का पूरा-पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न करता रहा, फलतः जो कुछ भी मुझे प्राप्त हुआ उसमें जो कुछ भी है वह सबका सब अकेले पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीजी का ही है, वे तो सदृज्ज्ञान के भण्डार थे, आत्मानुभूति प्राप्त महापुरुष थे उनकी वाणी का एक-एक शब्द गहन, गंभीर एवं सूक्ष्म रहस्यों से भरा हुआ अमृत तुल्य होता था उनमें से अगर किसी विषय के ग्रहण करने, समझने में मैंने भूल की हो और उसके कारण इस लेखमाला में भी भूल हुई हो तो वह सब मेरी बुद्धि का ही दोष है। और जो कुछ भी यथार्थ है वह सब पूज्य श्री स्वामीजी की ही देन है, उनके स्वर्गवास के पश्चात् तथा पूर्व में भी जैसे-जैसे मैं जिनवाणी का अध्ययन करता रहा हूँ उनके उपदेश का एक-एक शब्द जिनवाणी से मिलता था उससे भी उनके प्रति मेरी श्रद्धा बहुत दृढ़ हुई है। वास्तविक बात तो यह है कि जिनवाणी के अध्ययन करने के लिये दृष्टि भी पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा ही प्राप्त हुई है, अन्यथा मोक्षमार्ग के लिए हम बिल्कुल अन्धे थे अतः इस पामर प्राणी पर तो पूज्य स्वामीजी का तीर्थंकर तुल्य उपकार है, जिसको यह आत्मा इस भव में तो क्या, भविष्य के भवों में भी नहीं भूल सकेगा।

मेरी धर्ममाता पूज्य बहनश्री चंपाबहन तथा पूज्य शांता बहन की भी मेरे ऊपर बहुत कृपा रही है, उनका भी मेरे पर असीम उपकार है, उनके कारण मेरे जीवन में अपूर्व परिवर्तन हुआ है। पूज्य गुरुदेवश्री के उपदेशों का जब-जब मेरी अन्तर्परिणति के साथ मेल बैठता था तो अनेक उलझनें एवं शंकायें उत्पन्न होती थीं, ऐसी अन्तर की गुत्थी सुलझाकर मार्ग को निःशंक एवं सरल बनाने के लिए उनका मेरे ऊपर असीम उपकार है। वह भी यह आत्मा कभी भुला नहीं सकता।

इसप्रकार जो कुछ भी गुरु उपदेश से प्राप्त हुआ और अपनी स्वयं की बुद्धिरूपी कसौटी से परखकर स्वानुभव द्वारा निर्णय में प्राप्त हुआ उसी का संक्षिप्त सार अपनी सीधी सादी भाषा में प्रस्तुत करने का यह अन्तिम प्रयास है। मेरी उम्र ७६ वर्ष है और इस कृति के दो भाग शेष हैं। इस जीवनकाल में यह कृति सम्पूर्ण तैयार होकर आत्मार्थी बन्धुओं को मोक्षमार्ग प्राप्त करने का मार्ग सुगमता से प्राप्त करावे— यही एक भावना है।

इस पुस्तक का नाम रखा गया है 'सुखी होने का उपाय' जिसका अर्थ होता है— मोक्ष प्राप्त करने का उपाय, आत्मा की परम शांति प्राप्त करने का उपाय। इस पूरे विषय को तीन

भागों में विभक्त कर अलग-अलग तीन पुस्तकों के रूप में प्रकाशित किया जायेगा। प्रथम भाग में 'वस्तु स्वभाव एवं विश्व व्यवस्था' दूसरे भाग में 'आत्मा की अन्तर्दशा, भेदज्ञान एवं तत्त्व निर्णय' एवं तीसरे भाग में 'आत्मद्रव्य में अहंपने के द्वारा आत्मानुभूति' विषय पर चर्चा होगी।

पहले भाग का विषय तो विषय-सूची से स्पष्ट होगा, पहले भाग में उपरोक्त विषय प्रारम्भ करने के पूर्व एक (विषय-प्रवेश) के नाम से प्रथम अध्याय है। उसमें समझने की जिज्ञासा कैसे पात्र जीव को उत्पन्न होती है, उसकी पूर्व भूमिका का विवेचन है क्योंकि वर्तमान के जीवन में ही जो जीव संतुष्ट है, इस पर्याय को ही जो सर्वस्व मानकर बैठा है, जिसको वर्तमान में दुःख नहीं लगा हो, ऐसा जीव सुखी होने के उपाय की खोज ही क्यों करेगा? इसलिये आत्मार्थी जीव को वर्तमान पर्याय की अनिश्चितता आदि के ज्ञान के माध्यम से संसार देह और भोगों में विरक्ति उत्पन्न कराकर आत्मा में पात्रता प्राप्त कराने का प्रयास किया गया है। पात्रता के बिना प्रस्तुत प्रकरण में प्रवेश होना संभव नहीं है, श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा भी है—

“पात्र बिना वस्तु न रहै, पात्रे सम्यग्ज्ञान”

इसप्रकार प्रथम भाग में उपरोक्त विषयों का स्पष्टीकरण गुरुउपदेश से प्राप्त आगम के आधारपूर्वक स्वानुभव से परीक्षा कर अनेक युक्तियों के माध्यम से सीधी-सादी भाषा में प्रस्तुत किया गया है।

पहले भाग के विषय को हृदयंगम करने के पश्चात् जिस आत्मार्थी जीव ने छः द्रव्यों से भिन्न विकारी निर्विकारी पर्यायों सहित केवल मात्र अपने आत्मद्रव्य में ही अहंपना, मम्पना स्थापित कर लिया है तथा पर द्रव्यों में करने धरने सम्बन्धी विकल्प के उत्पन्न होते रहने पर भी तथा भाषा भी उसीप्रकार की निकलते रहने पर भी, अपनी श्रद्धा एवं अभिप्राय में अपने द्रव्य की सभी प्रकार की पर्यायों के अतिरिक्त, परद्रव्यों में कर्तृत्व के अनादि से समागत, मिथ्या, अहंकार को समाप्त कर दिया है ऐसे आत्मार्थी छः द्रव्यों के साथ भेद विज्ञान उत्पन्न कर स्व में स्वबुद्धि एवं पर में परबुद्धि स्थापित कर ली है, पर के प्रति उपेक्षाबुद्धि खड़ी की हो, छः द्रव्यों से अहम्पना दूर कर, अपने गुण, पर्याय के समुदायरूप आत्मद्रव्य में अहंपना स्थापित कर लिया हो, ऐसे उस आत्मार्थी खोजक जीव को दूसरे भाग में अपने आत्मा के अन्दर निरन्तर उठने वाली अपनी अनन्त पर्यायों में छिपी हुई त्रिकाली आत्मज्योति को भेदज्ञान के माध्यम से रागद्वेष आदि आस्रवबंध भावों में हेयबुद्धि उत्पन्न कराकर, संवर एवं निर्जरा रूप निर्मल पर्याय अर्थात् सम्यग्दर्शनादि पर्यायों को उपादेय तत्त्व के रूप में स्वीकार कराकर विकारी पर्यायों के अभावरूप मोक्षदशा प्राप्तव्य है,— ऐसी श्रद्धा उत्पन्न कराने की विधि का वर्णन होगा साथ ही एकमात्र शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत, निजआत्मा में अहंपना स्थापित कराकर, पर्यायार्थिक के

विषयभूत पर में से अहंपना मेरेपन की बुद्धि छुड़ाकर स्वज्ञेय रूप निजात्मतत्व में आत्मबुद्धि कराई जावेगी। जो संसार के अभाव का एकमात्र उपाय है।

संक्षेप में कहो तो प्रमाण के विषयभूत निज आत्मद्रव्य में छहद्रव्यों के भेदज्ञान द्वारा अहंपना, स्थापन किया था, उस ही आत्मद्रव्य में अपने ही गुण पर्यायों के स्वरूप को समझकर, उनमें भी भेदज्ञान उत्पन्न कर, एकमात्र शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत निज आत्मद्रव्य में अहंपना स्थापन कराने के उपायों की विवेचना दूसरे भाग में करने का संकल्प है।

तीसरे भाग में अपने त्रिकाली ज्ञायक भाव में अहंपना स्थापन करने की जो विधि दूसरे भाग के द्वारा विकल्पात्मक ज्ञान में समझ ली गई हो, उस विधि को अपने अन्दर प्रयोग किसप्रकार किया जावे अर्थात् विकल्पात्मक ज्ञान, निर्विकल्पात्मक रूप में परिणत कैसे हो— यह समझने का प्रयास किया जावेगा। जिसप्रकार वर्तमान शिक्षा पद्धति में, पद्धति का ज्ञान कर लेने पर भी अगर वह छात्र उसका प्रयोग नहीं कर पावे तो उसको उस विषय में अनुत्तीर्ण समझा जाता है। ठीक उसीप्रकार जिस पद्धति को अपनाने का ज्ञान इस जीव ने समझा हो, उसका प्रयोग अपनी परिणति में करके अपने त्रिकाली ज्ञायक भाव की अनेक प्रकार से महिमा लाकर, उसमें अहंपना स्थापन करवाना है। जो भी अन्य ज्ञेय, पर रूप से मेरे जानने में आते हैं, वह सब भी मेरी ज्ञान की पर्याय ही हैं। अतः मेरे को जानने में भी उनके प्रति किंचित भी आकर्षण नहीं है, मुझे तो एकमात्र मेरा आत्मा ही ज्ञेयरूप से प्रतिभासित हो रहा है। अतः ज्ञेय रूप भी मैं हूँ और ज्ञान रूप भी मैं ही हूँ, आदि- आदि निर्णयों की दृढ़ता के माध्यम से सहज ही उपयोग को कहीं भी जाने का आकर्षण समाप्त होकर मात्र एक स्वआत्मा ही सर्वश्रेष्ठ निवास स्थान लगने लगे, तब आत्मा का उपयोग सहज रूप से स्वसन्मुख होकर दौड़ने लगता है। उस स्थिति में आत्मा के सभी गुण उस परिणति के अनुगामी होकर आत्मा के सन्मुख हो जाने से आत्मा परमशांत निर्विकल्प दशा का सहज ही पान करके कृतकृत्य हो जाता है।— ऐसे जीव की पर के प्रति आसक्ति टूट जाने पर सहज रूप से वैराग्य परणति जीवन में, प्रस्फुटित हो जाती है। उन सब दशाओं का तीसरे भाग में वर्णन करने का संकल्प है।

इसप्रकार उपरोक्त पुस्तक के तीनों भागों की संक्षिप्त रूपरेखा है मेरा उपयोग जिनवाणी माता की शरण में ही रहे, मात्र इसी भावना से यह प्रयत्न किया है; अन्य कोई प्रयोजन नहीं है।

— नेमीचंद पाटनी

विषय प्रवेश

यह तो सार्वभौमिक निर्विवाद सत्य है कि प्राणीमात्र सुख चाहता है। चाहे वह एक इन्द्रिय वनस्पति हो अथवा पाँच इन्द्रियों वाला मनुष्य तिर्यच, देव आदि कोई भी हो, सब ही रात्रि-दिवस जो कुछ भी करते हैं, वह सब सुख प्राप्त करने के लिए ही करते हैं, अन्य कुछ भी किंचितमात्र प्रयोजन नहीं है। सोना अथवा जागना, खाना अथवा नहीं खाना, पीना अथवा नहीं पीना, सिनेमा देखना शराब पीना आदि अच्छे अथवा बुरे-सभी काम सुख के लिए करता है। इसलिए यह तो निर्विवाद है कि प्राणीमात्र को सुख चाहिए, कहा भी है :—

“जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहें दुःखतैं भयवन्त।”

अतः सुख प्राप्त करने के उपाय के संबंध में विचार विश्लेषण करते हैं। यह विचार करने से भी पहले सुख की व्याख्या को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।

इच्छाओं की पूर्ति को ही जगत् सुख मानता है

जगत् मानता है कि जो इच्छा उत्पन्न हो उसकी पूर्ति हो जावे, वह ही सुख है और इच्छा होने पर उसकी पूर्ति नहीं होना दुःख है। इसलिये जिसप्रकार की भी इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, उनकी पूर्ति के साधनों को इकट्ठा करने के लिये ही वह निरन्तर प्रयास करता रहता है; तथा जो इच्छा पूर्ति में बाधक हों उन-उन कारणों को मिटाना-दूर करना चाहता है। उनकी प्राप्ति अथवा दूर करने के लिए चाहे कितने ही जीवों का घात करना पड़े, कष्ट भी पहुँचाना पड़े, अन्याय रूप प्रवृत्ति भी करना पड़े तो भी अपने प्रयासों की पूर्ति में रत जीव को पाँच पाप — हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, सहजरूप से हुए बिना रहते ही नहीं हैं। अर्थात् अपने प्रयासों को सफल करने के लिये पाँच पापोंका भी उपयोग करता ही रहता है। उन प्रयासों के बारे में गहराई से विचार करें तो इस शरीर से

सम्बन्धित पंचेन्द्रियों के अनुकूल कारणों को ही जगत ने सुख का कारण एवं प्रतिकूल कारणों को ही दुःख का कारण माना है, जैसे :—

१. स्पर्शन :— शरीर को अनुकूल लगने वाले साधनों को, जैसे गरमी में ठंडक और सर्दी में गरमी एवं कामवासना जागृत होने पर उसकी पूर्ति के कारणों को जुटाने का एवं बाधक कारणों को हटाने का प्रयास करता है उस कामवासना की पूर्ति के साधन अपने शरीर को पुष्ट रखने के लिये खाद्य-अखाद्य, योग्य-अयोग्य उपायों को अपनाने से भी नहीं चूकता ।

२. रसना :— जिह्वा को अच्छे लगने वाले एवं शरीर को पुष्ट करने वाले अनेक प्रकार के व्यंजन आदि चाहे वे अनेक जीवों का घात करके भी तैयार किये जा सकें, जैसे — मांस आदि से तैयार किया गया भोजन । इसीप्रकार शास्त्र में वर्णित अनेक प्रकार के अभक्ष्य पदार्थों से तैयार किया गया, बहुत से स्थावरों के घात से तैयार किया गया एवं अनिष्टकारक भोजन, जैसे-अजीर्ण में मिष्टान्न, नशा उत्पन्न करने वाला एवं अनुपसेव्य-जो लोक में भी निषिद्ध होंग, ऐसे पदार्थों के द्वारा भी रसना इन्द्रिय को तृप्त करके भी उस इच्छा की पूर्ति के प्रयत्न में निरन्तर रत रहता है एवं उनकी पूर्ति का साधन इन इन्द्रियों एवं शरीर को मानकर उनको पुष्ट करने के प्रयासों में निरन्तर लगा रहता है ।

३. घ्राण :— नाक को अच्छे लगने वाले सुगंधित पदार्थों को जुटाने का एवं अच्छे नहीं लगने वाले पदार्थों को हटाने के प्रयास में लगा रहता है, जैसे इत्र, सेन्ट, क्रीम अनेक प्रकार के पाउडर आदि अनेक वस्तुएँ, उनके तैयार करने में चाहे कितने ही जीवों का निर्दयता से वध किया गया हो ।

४. चक्षु :— आँख को सुहावना लगने वाले साधनों जैसे- सिनेमा, टेलीविजन, वी.सी.आर आदि अनेक साधनों को इकट्ठा करके चक्षुइन्द्रिय को तृप्त करने का प्रयास करता रहता है । उनको प्राप्त करने के लिए

आर्थिक क्षमता के अभाव में चोरी, बेईमानी आदि अन्याय करके भी उस आर्थिक बाधा को दूर करने के प्रयासों में निरन्तर रत रहता है ।

५. श्रोत्र-कर्ण :— कानों को अनुकूल लगे ऐसे अच्छे-अच्छे गायन आदि प्राप्त करने के साधनों को जुटाने के प्रयासों में रत रहता है ।

इसप्रकार उपरोक्त पाँचों इन्द्रियों का आधारभूत इस शरीर को मानकर तथा यह शरीर मैं हूँ, यह शरीर ही मेरा जीवन है-ऐसा मानकर अथवा यही पक्का विश्वास होने से, एकमात्र इस शरीर की तथा इसके माध्यम से इन पाँचों इन्द्रियों को पुष्ट रखने, सजाने, संवारने के प्रयास ही निरन्तर करता रहता है और उसके कारण निरन्तर आकुलित रहता है ।

आकुलता की तीव्रता क्यों होती है ?

आकुलता की तीव्रता, उग्रता क्यों होती है- इस संबंध में भी गंभीर मंथन आवश्यक है । सर्वप्रथम इस मान्यता के कारण कि यह शरीर ही मैं हूँ, इसलिये मुझे सुखी होना है तो इसी शरीर की अनुकूलता से मैं सुखी होऊँगा । इसलिये मुझे शरीर तथा इन्द्रियों की अनुकूलता के साधन जुटाने एवं प्रतिकूल कारणों को हटाने के उपाय करना ही चाहिये, इसमें क्या भूल है ? ऐसी मान्यता, विश्वास होने से इनकी पूर्ति के लिये निरन्तर इच्छाएँ उत्पन्न होती रहना स्वाभाविक ही है । अतः इच्छाएँ खड़ी होते ही उनकी पूर्ति करने के लिए अत्यन्त आकुलित हो उठता है और उनकी पूर्ति के प्रयासों के लिए दौड़ने लगता है । जब उन प्रयासों में सफलता प्राप्त नहीं होती है तो अत्यन्त दुःखी होता है एवं तीव्र आकुलित होकर और भी तेज दौड़ने लगता है । पुण्य के योग से कभी उन प्रयासों में सफलता प्राप्त हो जाती है तो उनका उपभोग करने के लिए तीव्र आकुलित हो उठता है । साथ ही अपने प्रयासों की सफलता देखकर, अन्य इच्छाओं की पूर्ति के लिए साधन जुटाने के लिए और भी तीव्रता आ जाती है अर्थात् एक तो प्राप्त सामग्री के भोगने की आकुलता और

साथ ही अन्य सामग्री प्राप्त करने की आकुलता, इसप्रकार भोगोपभोग सामग्री की उपलब्धि के लिये दौड़-धूप कम होने के बजाय, तीव्रता से बढ़ जाती है।

सत्य तो यह है कि इसकी यह मान्यता ही मिथ्या है कि “शरीर ही मैं हूँ, इस ही से मेरा जीवन है” आदि इस मिथ्या मान्यता के कारण ही यह उपरोक्त प्रकार से निरन्तर आकुलित रहता है और सारा जीवन इस ही तरह आकुलता करते-करते नष्ट कर देता है लेकिन फिर भी सुखी होता हुआ देखा नहीं जाता।

क्या बाह्य सामग्री के संयोग या वियोग से सुख-दुःख होता है ?

आज का जगत यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि यह आकुलता दुःख है, वरन् यह मानता है कि बाहर के ठाठ-बाटों की प्रचुरता की कमी अर्थात् पाँच इन्द्रिय के विषयों की सामग्री की कमी ही दुःख है तथा प्रचुरता ही सुख है। अतः इस संबंध में भी गहरी गवेषणा आवश्यक है।

सर्वप्रथम इस पर विचार करना चाहिए कि जिनके पास पाँचों इन्द्रियों संबंधी आवश्यकता की पूर्ति के साधन पर्याप्त हों एवं शरीर भी परिपुष्ट हो, सभी बाह्य अनुकूलताएँ भी हों तो उन्हें तो पूर्ण सुखी रहना चाहिए ? लेकिन ऐसा देखने में तो नहीं आता। उपरोक्त स्थिति वाले जीव भी आकुलित दुःखी देखे जाते हैं। उन्हें “पहले तो प्राप्त सामग्री को अत्यन्त गृह्यतापूर्वक शीघ्र भोगने की अत्यन्त आकुलता रहती है। क्योंकि पाँचों इन्द्रियों को भोगने योग्य सामग्री प्राप्त होते हुए भी उन सबको एक साथ भोग नहीं सकता, एक समय एक को ही भोग पाता है। फलतः कभी किसी को, कभी किसी को भोगने के लिए झपट्टे मारता हुआ तीव्र आकुलित होता है और जब एकसाथ इच्छानुसार भोगने की सामर्थ्य नहीं होती तो अनेक मादक पदार्थ शराब आदि पीकर भी उन

सबकी पूर्ति करना चाहता है। उसमें भी जब सफल नहीं होता तब इतना विह्वल हो जाता है कि नशा करके अचेत होकर पड़ जाता है। कहा भी है कि —

“आशागर्तः प्रतिप्राणी यस्मिन् विश्वामणूपमम् ।

कस्य किं कियदायाति वृथा तो विषयैषिताः ॥

— आत्मानुशासन- ३९

अर्थ :— आशारूपी खाड़ा प्रत्येक प्राणी में पाया जाता है। अनन्तानन्त जीव हैं, उन सबके आशा पायी जाती है तथा वह आशारूपी कूप ऐसा है कि ऐसे एक खाड़े में समस्त लोक अणु समान है और लोक तो एक ही है, तो अब यह कहो कि किसको कितना हिस्से में आये ?”

प्रश्न है कि जिसको इच्छित पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो चुकी है, उसको तो भोगने की इच्छा के अतिरिक्त अन्य आकुलता नहीं होनी चाहिए, लेकिन ऐसा भी देखने में नहीं आता, प्राप्त सामग्री को भोगने के साथ-साथ उस सामग्री को बनाये रखने की, भोगने के लिए शरीर व इन्द्रियों को पुष्ट करने की तथा जो उनमें बाधक कारण आ पड़ें तो उनको हटाने-नष्ट करने की तीव्र आकुलताएँ निरन्तर बढ़ती ही जाती हैं।

उपरोक्त आकुलताओं के साथ-साथ ही पर्याप्त सामग्री होने पर भी उनको अनवधिरूप से बढ़ाने की इच्छा इसको और भी ज्यादा आकुलित बनाये रखती है और उन इच्छाओं की पूर्ति के लिये और भी तीव्र आकुलता होती है। क्योंकि अन्य द्रव्य हमारे अनुकूल ही परिणामें, प्रतिकूल नहीं परिणामें-ऐसा जगत में कोई द्रव्य पराधीन तो है नहीं तथा संभव भी नहीं है। अगर ऐसा संभव होना मान भी लिया जावे तो हर एक व्यक्ति की इच्छापूर्ति हो जानी चाहिए, लेकिन ऐसा भी होता नहीं है और हो भी नहीं सकता। जैसे लखपति से करोड़पति बनने की, करोड़पति से अरबपति बनने की इच्छा किसको नहीं होती और उस इच्छा की पूर्ति के लिये क्या क्या अनीति-अन्याय नहीं करता। उसमें कोई बाधा उपस्थित

हो जावे तो उसको जान से भी मारने में पीछे नहीं हटता । फिर भी इच्छा के अनुसार तो होता नहीं तब और भी ज्यादा दुःखी होता है ।

आकुलता ही दुःख

जिसको लौकिकजन पूर्ण सुखी कहते हों, जो स्वयं भी अपने-आपको सुखी मानकर इन्द्रिय विषयों के भोगों में मग्न हो, उसी समय अगर कोई टेलीग्राम आ जावे कि तेरे को एक करोड़ का घाटा हो गया अथवा तेरे पुत्र का मरण हो गया तो उस व्यक्ति को आप सुखी कहेंगे या दुःखी ? साथ ही वह अपने-आपको पूर्ण सुखी मानने वाला व्यक्ति भी अपने-आपको सुखी मानेगा या दुःखी ? आप निर्णय करें कि जिस सामग्री की प्रचुरता को आपने सुख माना था वह तो इस समय भी जैसी की तैसी ही मौजूद है, फिर वह दुःखी क्यों हुआ ? इन सबसे आप स्वयं ही निष्कर्ष पर पहुँच जावेंगे कि वह सामग्री रहते हुए भी, उस टेलीग्राम से जो तीव्र आकुलता उसको खड़ी हो गयी थी, वह आकुलता ही दुःख है । क्योंकि वह आकुलता पहले नहीं थी अब वह आकुलता उत्पन्न होने पर वह अपने को दुःखी मानने लगा ।

निष्कर्ष यह निकला कि यथार्थतः सामग्री न तो सुख का कारण है और न दुःख का कारण है, बल्कि अन्दर में होने वाली आकुलता ही दुःख है और उस आकुलता की कमी को लोग सुख मानने लगते हैं, यथार्थतः तो आकुलता का अंशमात्र भी दुःख ही है । अतः जिसको सुखी होना हो उसको आकुलता की उत्पादक इच्छाओं को और इच्छाओं की उत्पादक इस मान्यता को छोड़ना चाहिए कि शरीर ही मैं हूँ और शरीर के जीवन से ही मेरा जीवन है, इस ही से मुझे सुख मिलेगा, ऐसी मेरी मान्यता मिथ्या है ।

शंका :- फिर भी वह कहता है कि इन विषयों को भोगने के समय सुख तो लगता है । अतः आप इसको दुःख क्यों कहते हो ?

समाधान :— जिसप्रकार १०६ डिग्री बुखारवाला बीमार व्यक्ति बुखार के समय तीव्र आकुलता का अनुभव करता था । उसही को १०२ डिग्री बुखार होने पर कोई पूछता है तो वह कहता है कि अब तो ठीक हूँ; क्योंकि १०६ के समय होने वाली आकुलता की अपेक्षा अभी बहुत कम आकुलता रह जाने से वह अपने आपको सुखी मानता है, लेकिन साथ ही यह भी स्वीकार करता है कि यह भी अभी निकालने योग्य हैं । ठीक उसीप्रकार जब इस जीव को इष्ट सामग्री प्राप्त करने की अथवा अनिष्टता दूर करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तभी तो उसकी पूर्ति करने की योजना बनाने में अथवा उसकी पूर्ति के साधनों को जुटाने की व्यग्रता में आकुल-व्याकुल होता है । लेकिन जब भी इस इच्छा की पूर्ति के योग्य साधन मिल जाते हैं, उसके प्राप्त होने के साथ ही वह आकुलता कम होने से उसको ऐसा लगता है कि यह आकुलता की कमी ही सुख है । लेकिन वस्तुतः उसे सुख मिलता नहीं है । अगर एक ही इच्छा खड़ी हो उसकी पूर्ति हो जावे कि जीव फिर अन्य इच्छा उत्पन्न न भी हो तो भी कदाचित् यह मान लिया जावे कि जीव सुखी हो जावेगा लेकिन एक इच्छा पूर्ति के समय अन्य अनेक इच्छाओं के पूर्ति करने की आकुलता तो खड़ी ही है, साथ ही जो सामग्री प्राप्त हुई उसके भोगने सम्बन्धी आकुलता और खड़ी हो गई और भोगने के समय भी उसको बारबार भोगने की, जल्दी-जल्दी भोगने की, अनेक प्रकार से भोगने की, अकेले भोगने की, अपने स्वजनों के साथ भोगने की, लोगों में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए दुनिया को दिखाकर भोगने की आदि अनेक-अनेक प्रकार की आकुलताएँ खड़ी हो जाती हैं । अतः इसको आकुलता से छुटकारा कभी नहीं मिल पाता । लेकिन अनादिकाल के विपरीत मान्यता के कारण वास्तव में दुःख होने पर भी इन आकुलताओं में ही सुख मानकर सारा जीवन इस ही प्रकार बिता देता है, लेकिन सारी जिन्दगी भर के अनेक प्रयासों से भी, कभी इसकी इच्छाओं का एवं उनकी पूर्ति करने के प्रयासों का अन्त नहीं आया, इसलिये वास्तव में दुःखी ही दुःखी बना रहता है ।

प्रयास करने पर भी इच्छानुसार सामग्री प्राप्त क्यों नहीं होती ?

अनादि से प्रत्येक जीव अनेकानेक प्रयास करता आ रहा है कि उसको इच्छित वस्तु प्राप्त हो जावे । लेकिन उनमें से किसी जीव को सफलता मिलती और किसी को नहीं मिलती है । इसका कारण क्या ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है ।

समाधान :- थोड़ा गम्भीरता से विचार करना चाहिए कि यह जीव कभी नया तो पैदा होता नहीं ? जब यहाँ पर पैदा हुआ है तो पहले कहीं था, वहाँ से मरकर यहाँ पैदा हुआ है और जो यहाँ से मरता है वह अन्य कहीं भी जाकर निश्चित रूप से उत्पन्न होगा यह तो निश्चित है । इसप्रकार यह तो प्रतीति में आता है कि जीव अनादि का है और अनन्त काल तक कहीं भी रहे-कायम रहेगा; यह विश्वास में आता है । जैसे कोई व्यक्ति किसी मित्र से मिलने के लिये अपना घर छोड़कर उस मित्र के घर गया हो और अपना कार्य समाप्त कर वह वहाँ से वापिस खाना होगया हो, उसके बाद उस व्यक्ति को खोजने के लिए उस व्यक्ति का पुत्र उस मित्र के घर आवे और उससे पूछे कि मेरे पिताजी कहाँ हैं ? तो सहज ही उसका मित्र यह ही जवाब देगा कि वे तो यहाँ से चले गये । ऐसा उत्तर सुनते ही वह पुत्र समझ गया कि वे इस स्थान पर नहीं हैं, लेकिन अन्य किसी स्थान पर हैं जरूर । उसको ऐसा भ्रम नहीं होता कि वे जगत में कहीं भी नहीं होंगे । ठीक इसीप्रकार जब किसी जीव का मरण होता है अर्थात् इस देह को जीव छोड़ देता है तब सब कोई यही तो बोलते हैं और मानते हैं कि इस शरीर में से जीव निकल गया, लेकिन उसका अस्तित्व का अभाव नहीं हो गया, इस शरीर में नहीं, लेकिन अन्य कहीं भी उसका अस्तित्व है जरूर ।

अन्य प्रकार से भी विचार करें और यह मानने लगे कि मरण के बाद जीव कहीं भी अन्य जगह उत्पन्न नहीं होता और अस्तित्व ही खत्म हो जाता है ? तो जब यह पैदा हो गया तब जीव कहाँ से आ जावेगा

और कौन-किसको-कैसे-कहाँ से पैदा कर देगा आदि-आदि । इस स्थान पर यह विषय चर्चा योग्य नहीं हैं, क्योंकि उपरोक्त चर्चा ही मात्र जीव की सत्ता का अनादि-अनन्त माननेवालों के लिए ही है-नास्तिक एवं चार्वाक मान्यताओं के लिये नहीं ।

जीव के भावों का फल जीव को अवश्य भोगना पड़ेगा

उपरोक्त प्रकार से जीव की सत्ता अनादि-अनन्त मानने पर यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जीव जो-जो भी अच्छे और बुरे भाव वर्तमान में करेगा उनका फल भी अच्छा और बुरा जरूर मिलना ही चाहिए अन्यथा सदाचार से रहने का एवं दुराचार छोड़ने का उपदेश भी क्यों दिया जाता है ? समाज भी दुराचारी को बुरा एवं सदाचारी को अच्छा क्यों कहता है ? साथ ही सरकार भी दुराचारी को दण्ड और सदाचारी को पुरस्कृत क्यों करती है ? इसका अर्थ ही यह है कि जगत में सब कोई सदाचार को अच्छा और बुरे आचरण को बुरा मानते भी हैं और कहते भी हैं ।

इससे निष्कर्ष निकलता है कि अच्छे भाव करने योग्य होते हैं और बुरे भाव नहीं करने योग्य माने जाते हैं । ऐसी स्थिति में अगर कोई हमारे ऐसे बुरे भाव हों जो समाज के साथ ही सरकार की भी जानकारी में न आवें, तो क्या उस भाव करने वाले को कोई फल नहीं होना चाहिए ? जरूर होना ही चाहिए, अन्यथा बुरे काम करने से कोई क्यों डरेगा ? एवं अच्छे भाव करने से लाभ कौन मानेगा; फलतः उन भावों का फल तो उस जीव का होता ही है । यह स्वाभाविक भी है, बुरे भावों का फल वही होना चाहिए जो इसको स्वयं का अच्छा नहीं लगे और उसीप्रकार अच्छे भावों का फल वही होना चाहिए जो इसको अच्छा लगे । अतः यह जीव जब-जब जैसे-जैसे भाव करता है तब-तब ही उसको उसही प्रकार के कर्म बंध जाते हैं । अच्छे भावों के फल में इसको जैसी ये चाहता है इच्छा करता है वैसी ही सामग्री प्राप्त होती ही रहती है, और बुरे भाव करते समय ही ऐसे कर्मों का बंध यह जीव करता है, जिसके फल में इस जीव

को जैसी यह इच्छा करता है वैसी सामग्री नहीं मिलती, प्रत्युत नहीं चाहता है वैसी सामग्री बिना इच्छा किये प्राप्त होती रहती है। कर्मबंधन की प्रक्रिया ऐसी है कि कर्म बंधते समय ही कुछ कर्म इसप्रकार से बंधते हैं कि अभी वर्तमान भव में भी उदय में आ जाते हैं और कंछकर्म इस प्रकार बंधते हैं कि उनके उदय के समय यह जीव अपनी देह परिवर्तन कर लेता है। अर्थात् इस भव को छोड़कर दूसरे भव में पहुँच जाता है, तो वे कर्म उस भव में फल देते हैं। उन कर्मों को हम पुण्य व पापकर्म के नाम से जानते हैं। पुण्य के फल में अनुकूल इच्छाओं की पूर्ति होती है तथा अच्छी नहीं लगने वाली सामग्री सहज ही नहीं आती और पापकर्म के उदय के फल में इच्छाओं के अनुसार सामग्री नहीं मिलती और प्रतिकूल स्थितियाँ नहीं चाहते हुए भी आ पड़ती हैं।

इन सबसे यह नतीजा समझ में आता है कि जीव को अपने वर्तमान प्रयासों से इच्छा के अनुकूल सामग्री प्राप्त नहीं होती। इसीप्रकार प्रतिकूल परिस्थितियाँ हमारे प्रयास के करने से दूर नहीं होतीं, वरन पूर्व में किये गये भावों के फलस्वरूप जो पुण्यकर्म बांध लिया था उसका उदय आने से, उसका प्रयास सफल होता हुआ दीखने लगता है तो उसको यह जीव भ्रम से अपने प्रयासों का फल मानकर सफल होने पर अभिमान करके प्रयासों में और भी उग्रता लाकर तीव्र आकुलित होता है। पश्चात् वह अपने प्रयासों को और भी तीव्रता के साथ करने लगता है, लेकिन मिलता उतना ही है जितना पुण्य का उदय होता है। इसीप्रकार पूर्व में किये गये खराब भावों से बांधे गये पापकर्म, उनके उदय के कारण प्रतिकूल संयोग प्राप्त होते रहते हैं लेकिन उनको भी अपने प्रयासों के करने के तरीकों की भूल मानकर निरन्तर तीव्र आकुलित होकर नये-नये तरीके जुटाता है और दुःखी होता रहता है। लेकिन इतना होकर भी उन संयोगों में कुछ भी परिवर्तन नहीं हो पाता। अतः इसके प्रयासों से संयोग तो बदलते नहीं और आकुलता उल्टी बढ़ती ही रहती है। फल यह होता है कि

वर्तमान तीव्र आकुलता के समय होने वाले नये पापभावों के फलस्वरूप फिर नये पापकर्म बांधता है जो आगामी फिर तदनुकूल फल प्राप्ति होने पर भविष्य में भी दुःखी होता रहेगा । इसीप्रकार अत्यन्त आकुलतारूप दुःख का वेदन करता हुआ भ्रमण करता रहता है । इसका कारण एकमात्र इसकी उल्टी मान्यता है । यह मानता है कि मैं-मेरे प्रयासों से बाहर की परिस्थितियों को बदल सकता हूँ इसलिए निरन्तर आकुलित होता रहता है ।

उपरोक्त सत्य स्थिति अर्थात् वस्तुव्यवस्था को समझें तो कम से कम अपने प्रयासों की निष्फलता के समय दीनता धारणकर तीव्र आकुलित नहीं होवें व अपने प्रयासों की सफलता के समय कर्तृत्वबुद्धि के मिथ्या अभिमान के द्वारा झूठी आकुलता से फूला-फूला नहीं फिरे अर्थात् दोनों प्रकार की आकुलताओं से बच सकता है ।

निष्कर्ष

अतः निष्कर्ष निकलता है कि सामग्री का मिलना नहीं मिलना अपने वर्तमान प्रयासों का फल नहीं है, वरन् पूर्व उपार्जित पुण्य अथवा पापकर्म हैं, उसके अनुसार ही सामग्री प्राप्त होती है ।

उपरोक्त कथन का तात्पर्य यह है कि इच्छायें ही दुःख अर्थात् आकुलताओं की जननी हैं । जिसके आकुलता है वही दुःखी है और जिसके किंचित भी आकुलता नहीं है वही पूर्ण सुखी है अर्थात् भगवान है । अतः अगर हमको भगवान बनना है तो इच्छाओं का अभाव करना होगा और जिस मार्ग से इच्छाएँ उत्पन्न ही न हों, उस मार्ग को अपनाना होगा इसी का नाम मोक्षमार्ग है, वही धर्म है, वीतरागी पंथ है, वही जिनशासन है । आचार्य समंतभद्र ने कहा भी है कि :—

“देशयामि समीचीनं धर्म कर्मनिर्वहणम् ।

संसारदुःखतः सत्वान् यः धरत्युत्तमे सुखे ॥ १ ॥

अर्थ :— मैं समीचीन धर्म को कहूँगा, वह धर्म कर्मों का (राग द्वेषादि का) अभाव करके प्राणिमात्र को संसाररूपी दुःख से छुड़ाकर उत्तम सुख को प्राप्त कराता है ।

भावार्थ यह है कि धर्म वही है जिसके धारण करने से आकुलतारूपी दुःख का अभाव होकर निराकुलता रूपी सुख की प्राप्ति हो । अतः सिद्ध होता है कि निराकुलतारूपी शांति को प्राप्त करने के लिए हमको उस धर्म का स्वरूप समझकर अपनाना चाहिए ।

धर्म का स्वरूप समझने के पहले यह समझना आवश्यक है कि जिस सुख को हमें प्राप्त करना है, वह सुख कहाँ है जहाँ से उसे प्राप्त किया जा सके ?

सुख कहाँ है ?

सामान्यता लौकिकजनों की ऐसी मान्यता है कि सुख तो जो सामग्री मिलती है उसमें से आता है, अतः सामग्री जुटाना अत्यन्त आवश्यक है । लेकिन यह मान्यता गलत है । जैसे किसी को गुलाबजामुन खाने की इच्छा हुई और वह उसे मिल गयी तो वह मानने लगता है कि यह सुख गुलाबजामुन में से आया है, लेकिन विचारना चाहिए कि अगर यह मान्यता ठीक है तो एक गुलाबजामुन में से जितना सुख आया हो तो दस गुलाबजामुन के द्वारा दस गुना सुख मिलना चाहिए और खानेवाले को अर्थात् सुख के चाहने वाले को भी खाने से मना नहीं करना चाहिए । लेकिन प्रत्यक्ष देखने में आता है कि इच्छापूर्ति के बाद अगर उसको एक भी जबरदस्ती खिलाया जाये तो वह उसही गुलाबजामुन को खाते हुए दुःखी होने लगता है । विचारना चाहिए कि ऐसा क्यों होता है ? जब इसको सुखी होना है और जिसमें से सुख आ रहा है तो उसको शीघ्र से शीघ्र ज्यादा से ज्यादा प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए । लेकिन होता इसके विपरीत है । दूसरी बात-अगर उस गुलाबजामुन में सुख है ही, तो उसको भीतर से देखना चाहिए कि वह सुख है कहाँ ? और उसमें से

सुख निकाल लेना चाहिए। अतः विचार करें-ऐसा संभव हो सकता है क्या ?

इस दृष्टान्त से यह निष्कर्ष निकलता है कि उन वस्तुओं में सुख होता तो उनके ज्यादा सेवन से ज्यादा सुख निकलना चाहिए था, लेकिन ऐसा होता नहीं है। यथार्थ स्थिति यह है कि पहिले जिस चीज को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हुयी थी, जब तक वह चीज प्राप्त नहीं होती आकुलित अर्थात् दुखी होता रहता है, और जब वह इच्छा किसी भी प्रकार से वस्तु को प्राप्त करके या बिना प्राप्त करे भी शांत हो जाती है तो वह आकुलता घट जाने के कारण, वह प्राणी शांति का आभास करने लगता है, और उसी को सुख मानने लगता है।

यथार्थतया इच्छा का उत्पन्न होना ही दुःख है। और किसी भी प्रकार से उस इच्छा की कमी होने पर अपने-आपको सुखी मानने लगता है। अतः निर्णय व अनुभव में आता है कि इच्छा तो आत्मा में ही उत्पन्न होती है और उस आकुलता का अभाव या कमी भी आत्मा में ही होती है। अतः सिद्ध होता है कि आत्मा में उत्पन्न होनेवाला दुःख वही है जो कि इच्छा उत्पन्न होने पर उत्पन्न हुआ है एवं अपने अनुभव में आता है। वह आत्मा में ही है व उस आकुलतारूपी दुख की कमी भी आत्मा में ही होती है तथा आत्मा उस समय अपने को सुखी भी मानने लगता है। जब किसी प्रकार गुरु उपदेश अथवा जिनवाणी के माध्यम से यथार्थ स्थिति समझे कि मेरा सुख बाहर की वस्तु में से नहीं आ सकता है, अतः उनके प्राप्त करने संबंधी आकुलता करना निष्फल है, कर्म का उदय मानकर संतोषवृत्ति धारण करने में ही शांति प्राप्त होती है, यही सुखी होने का उपाय है। ऐसा विश्वास जागृत होने पर, आत्मा अगर इच्छाओं को उत्पन्न ही नहीं होने देवे अर्थात् जिसको इच्छा उत्पन्न ही न हो, वही परम सुखी है, वही परमेश्वर है तथा वह सुख भी आत्मा को आत्मा में ही होता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा का सुख आत्मा में ही होता है, आत्मा का सुख अन्य कहीं भी नहीं होता तथा अन्य कहीं से भी नहीं आता।

आत्मा दुःख उत्पन्न ही क्यों करता है ?

यहाँ सहज ही प्रश्न खड़ा होता है कि जब आत्मा सुख स्वभावी ही है, उसका निरन्तर सुखमय रहने का स्वभाव ही है तो सुख में से दुःख उत्पन्न ही क्यों होता है और आत्मा दुःख का उत्पादन ही क्यों करता है ?

इस प्रश्न का हल करने के लिए पहले यह समझना चाहिए कि दुःख पैदा कैसे होता है ? जैसे एक तालाब जो स्वच्छ जल से लबालब भरा है उसमें एक पत्थर का टुकड़ा फेंका जाए तो वह तालाब का पानी जो शांत पड़ा था वह अशान्त हो जाता है । उसीप्रकार आत्मा तो निराकुल स्वभावी आकुलता रहित शांत ही पड़ा है, उसमें जिस समय भी कोई इच्छारूपी पत्थर का टुकड़ा फेंका कि शांतस्वभावी आत्मा में आकुलता की उत्पत्ति हो जाती है । अतः यह आत्मा अपनी उल्टी मान्यता के कारण स्वयं ही दुःखी होता है ।

प्रश्न का दूसरा चरण है कि आत्मा दुःख का उत्पादन ही क्यों करता है ? यह बात बहुत गंभीरतापूर्वक विचारने योग्य है, क्योंकि जो आत्मा को नहीं चाहिए और उत्पादन हो जाने के बाद जिसे मिटाने का प्रयास करना पड़े उसका उत्पादन ही आत्मा क्यों करता है ?

सत्य बात तो यही है कि आत्मा को ऐसी गंभीर भूल नहीं करनी चाहिए और उसी में आत्मा का हित भी है । लेकिन अनादिकाल से इसको कभी यह विश्वास ही उत्पन्न नहीं हुआ कि मैं स्वयं सुखस्वभावी हूँ, मेरे को मेरा सुख कहीं बाहर से लाना नहीं पड़ता, इस विश्वास के माध्यम से अगर मैं सुख प्राप्त करने की इच्छा ही उत्पन्न नहीं होने दूँ तो दुःख का उत्पादन भी नहीं होगा । उससे उल्टा यह विश्वास अनादि से करता चला आ रहा है कि मैं स्वयं सुखस्वभावी नहीं हूँ, मुझे सुख चाहिए और मेरा सुख बाहर के संयोगों में है, उनमें से ही प्राप्त किया जा सकता है । अतः अगर सुख प्राप्त करना है तो मुझे बाहर के अनुकूल संयोग इकट्ठे करके उनमें से सुख प्राप्त करना चाहिए । उस सुख को प्राप्त करने

में जो भी बाधक बनें उन सबको अपने पूर्ण प्रयत्न के द्वारा दूर करना पड़ेगा। आदि-आदि विश्वास के कारण उन संयोगों को इकट्ठा करने की एवं बाधक संयोगों को दूर करने की चिन्ता में दिन-रात लगा रहता है और आकुलित हो-होकर निरन्तर दुःखी बना रहता है।

पाँचों पाप और कषायों की उत्पत्ति का कारण

उपरोक्त मिथ्या विश्वास, श्रद्धा होने के कारण ही उपरोक्त प्रयासों में लगे रहने पर, जिसको जितनी लालसा तीव्र होती है, प्राप्त करने की उग्रता उतनी ही ज्यादा होगी। वह व्यक्ति किसी भी प्रकार के संयोग की पूर्ति करने के लिए, हिंसा करने में, झूठ बोलने में, चोरी करने में, कामवासना की पूर्ति के लिए, अनेक प्रकार के अनर्थ करने में एवं संयोगों को इकट्ठा करने एवं बनाये रखने की चिन्ता अर्थात् आकुलता कितनी भी तीव्र हो, करने में जरा भी नहीं हिचकिचायेगा। उस निरन्तर होने वाली आकुलता का दुःख रूप भी अनुभव नहीं करता है, बल्कि तीव्र आकुलता करना अपना कर्तव्य मानकर उसमें अत्यन्त गृह्यता के साथ चौबीस घण्टे घानी के बैल की तरह जुता ही रहता है एवं दौड़ लगाता ही रहता है। इस ही प्रकार के प्रयासों के कारण उसको पांच पाप के अतिरिक्त बाधक कारणों को हटाने के लिए क्रोध कषाय उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती। थोड़ी सी सामग्री प्राप्त होते ही मानकषाय उत्पन्न होकर अपने-आपको दूसरों से ऊंचा दिखाने की एवं दूसरों को अपने से नीचा दिखाने की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। इसीप्रकार इच्छित सामग्री प्राप्त करने के लिए मायाचारी करके भी उसकी प्राप्ति हेतु निरन्तर प्रयासरत रहता है। प्राप्त सामग्री को बनाये रखने एवं तृष्णा की उग्रता होने से और भी ज्यादा बढ़ाने की इच्छा के कारण लोभकषाय हुए बिना नहीं रहती।

इसप्रकार उपरोक्त मिथ्याश्रद्धा-विश्वास वाला जीव सभी प्रकार के पाप एवं सभी तरह की कषायें करने में जरा भी संकोच नहीं करता उल्टी आकुलतारूपी दुःख होने पर भी उसमें सुख मानता है। इस विश्वास के

कारण वह उस आकुलता को छोड़ने का अथवा नहीं करने का प्रयास कर ही कैसे सकता है? अर्थात् कभी नहीं कर सकता।

सारांश यह निकला कि आत्मा स्वयं दुःख का उत्पादक है ही नहीं, वह दुःख का स्वयं उत्पादन करेगा ही क्यों? दुःख उसको चाहिए ही नहीं, लेकिन इसकी उपरोक्त उल्टी विपरीत मान्यता, विश्वास, श्रद्धा ही उपरोक्त समस्त आकुलता की उत्पादक है। मेरा सुख परवस्तुओं अर्थात् बाहर के संयोगों में है- ऐसी मान्यता ही इसको अनेक प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न करके तथा उनकी पूर्ति करने संबंधी अनेक प्रकार की आकुलता खड़ी रहती है। इसलिये दुःख का उत्पादक आत्मा नहीं है वरन् उपरोक्त उल्टी मान्यता से उत्पन्न हुई इच्छाएँ ही, दुःख की उत्पादक हैं।

तात्पर्य यह है कि अगर आत्मा को सुखी बने रहना हो तो उपरोक्त मिथ्या मान्यता को बदलकर, इच्छाएँ उत्पन्न ही नहीं होने दें अर्थात् वह दुःख आत्मा में पैदा ही न होने पावे तो आत्मा सुखी है ही। अतः उसे सुख का उत्पादन नहीं करना है, इसके विपरीत दुःख का उत्पादन जो होता था वह बन्द हो जाने से आत्मा अनन्तकाल तक पूर्णसुखी बना रहेगा, ऐसी मान्यता उत्पन्न करना है।

उपरोक्त मान्यता को बदलने का उपाय क्या ?

उपरोक्त प्रश्न तो बहुत छोटा सा है, लेकिन इसका समाधान बहुत विस्तारपूर्वक गम्भीर गवेषणा मांगता है, अनादिकाल से यह जीव जिस मिथ्यामान्यता उल्टी मान्यता, उल्टा विश्वास, उल्टी श्रद्धा होने से निरन्तर इच्छाएँ उत्पन्न करके, उनकी पूर्ति के लिए अनेक प्रकार से राग-द्वेष अर्थात् क्रोधादि कषायें, पाँच पाप आदि भाव करता रहता है, उस ही के फलस्वरूप कर्मबंध करता है, उसके फल में परिभ्रमण करता रहता है। उस सबका कारण अर्थात् संसारभ्रमण का कारण उल्टी मान्यता है। उस मिथ्यामान्यता को दूर करने के लिए कितनी एकाग्रता, कितनी गंभीरता, कितनी सहिष्णुता,

कितना धैर्य एवं अन्दर में तीव्र लगन चाहिए—यह तो आप अनुमान लगा ही सकते हैं ।

संसार के परिभ्रमण को दुःखरूप समझकर अब एक भी नया भव प्राप्त नहीं करना है— ऐसा उग्र संकल्प करना चाहिए एवं उल्टी मान्यता को बदलकर सच्चा मार्ग प्राप्त करने के लिए, मुझे सब कुछ भी बलिदान करना पड़े तो भी सर्वस्व समर्पण करके भी, यथार्थ मार्ग प्राप्त करने का उग्र पुरुषार्थ एवं संसार दुःख से भयभीतता, साथ ही आत्मा के अन्दर रहने वाले अतीन्द्रिय सुख की महत्ता आदि होना चाहिए । वह सब भी जब तक भले प्रकार सत्समागम के द्वारा समझकर आत्मा के अन्दर विश्वास में नहीं जमें और सच्चा मार्ग प्राप्त करने की तीव्र लगन ही नहीं लगे तब तक वह मिथ्या मान्यता बदल कर यथार्थ मार्ग प्राप्त करना तो दूर, रुचिपूर्वक समझ में आना भी बहुत कठिन है ।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा भी है कि :—

कषाय की उपशान्ता, मात्र मोक्ष अभिलाष ।

भवे खेद प्राणीदया, वहाँ आत्मार्थ निवास ॥

और भी कहा है कि :—

काम एक आत्मार्थ का अन्य नहीं मन-रोग ।

सारांश यह है कि उपरोक्त मोक्ष का मार्ग अर्थात् संसार परिभ्रमण से छूटने का उपाय अर्थात् धर्म वही जीव प्राप्त कर सकता है जिसको ऊपर कहे अनुसार अन्दर में लगन लगी हो; वही आत्मार्थी मुमुक्षु, मोक्षमार्ग अर्थात् धर्म, प्राप्त करने का पात्र-अधिकारी हो सकता है ।

अतः उपरोक्त पात्रता प्रगट करके सम्पूर्ण समर्पणता एवं उग्र पुरुषार्थ के द्वारा धैर्यपूर्वक निजधर्म अर्थात् मोक्षधर्म के स्वरूप को समझना चाहिए ।

धर्म एवं धर्म समझने की प्रक्रिया

उपरोक्त प्रकार के धर्म को समझने के लिए आतुर आत्मारथी जीव को धर्म समझने के लिए सहज ही निम्नांकित प्रश्न उपस्थित होते हैं—

१. धर्म किसको करना है ?
२. धर्म कहाँ होता है ?
३. धर्म का स्वरूप क्या है ?
४. धर्म प्राप्ति का उपाय क्या है ?

उक्त चार प्रश्नों के समाधान प्राप्ति के माध्यम से यह जीव धर्म प्राप्त करने के लिए उद्यत होता है ।

धर्म किसको करना है ?

हर-एक व्यक्ति यह कहता एवं मानता है कि धर्म तो तुझे करना है लेकिन वह मैं, जिसको यह मुझे कहता है कौन हूँ, उसका स्पष्ट ज्ञान हुए बिना धर्म काम करने प्रारम्भ ही कैसे हो सकेगा ?

सामान्यतः हर-एक व्यक्ति इस वर्तमान में प्राप्त शरीर के साथ आत्मा की मिली-जुली असमान-जातीय पर्याय अर्थात् दशा को “मैं” मानता आ रहा है । अर्थात् आत्मा तो एक चेतन द्रव्य है और यह शरीर पुद्गल परमाणुओं के पिण्ड अचेतन द्रव्यों का समुदाय है,— ऐसी दोनों असमान जातीय द्रव्यों की मिली-जुली जो यह वर्तमान पर्याय , उस ही को यह “मैं” मानता चला आ रहा है । लेकिन दोनों विजातीय द्रव्य होने से दोनों के धर्म अर्थात् स्वभाव भी अलग प्रकार के होने ही चाहिए । लेकिन सुख शांति तो मुझे अर्थात् आत्मा को चाहिए, शरीर तो अचेतन है, उसको तो दुःख की जानकारी भी नहीं होती तो उसको सुख की भी आवश्यकता रहती ही कहाँ है । लेकिन मैं तो, शरीर की वर्तमान पर्याय को “मैं” मानता चला आ रहा हूँ, लेकिन मृत्युकाल के समय का प्रत्यक्ष अनुभव है कि इन दोनों में से इस शरीर को तो यहाँ ही जलाकर राख

कर दिया जाता है और जिसके निकल जाने के कारण यह जीवित शरीर भी मुर्दा हो जाता है, ऐसा वह जीव इस शरीर से निकल कर अन्यत्र किसी शरीर को अपना निवास बना लेता है, लेकिन उसका अभाव नहीं हो जाता ।

मैं कौन हूँ ?

इस स्थिति में यह प्रश्न सहज ही महत्वपूर्ण हो जाता है कि ऐसी दशा में इन दोनों में से “मैं” कौन हूँ ? क्योंकि जिस पर्याय को मैंने अभी तक “मैं” मान रखा था उस पर्याय का तो अब कहीं पर भी अस्तित्व ही नहीं रहा । वास्तव में वे दोनों अलग थे इसलिए ही अलग-अलग हो गये । मैंने भ्रम से भूलकर इस पर्याय को “मैं” मान रखा था, इसलिये अब मुझे निर्णय करना चाहिए कि इन दोनों में से “मैं” कौन हूँ । गंभीरता से विचार करने पर सहज ही समझ में आ जाता है कि जिसको जलाकर मिट्टी में मिला दिया गया वह “मैं” कैसे हो सकता हूँ ? मेरा अस्तित्व तो मुझे प्रत्यक्ष अनुभव में आता है ।

अखबारों में पढ़ने को भी मिलता है कि कई व्यक्तियों को वर्तमान भव में पूर्व भव की बातें याद आ जाती हैं और उन प्रसंगों के संबंध में छानबीन करने पर वे सत्य प्रमाणित होती हैं । साथ ही लौकिक में भी कहा जाता है कि मृत्युकाल में जब यह शरीर मुर्दा हो जाता है तो कहते हैं कि अब इसमें से जीव निकल गया, अतः यह जलाने योग्य हो गया । इससे यह निष्कर्ष निकला कि हर व्यक्ति अव्यक्तरूप से यह स्वीकार करता है एवं मानता है कि जिसको यह कहता है—“निकल गया”, उसका अस्तित्व कहीं न कहीं है जरूर । दृष्टान्त पूर्व में दिया जा चुका है कि कोई एक व्यक्ति अपने मित्र के घर आकर वहाँ से वापस अपने घर चला गया, उसके चले जाने के बाद उस व्यक्ति का पुत्र उस मित्र के घर आता है तो उसका मित्र यही है कहता है कि तेरा पिता यहाँ से चला गया । ऐसा सुनते ही उस पुत्र को ऐसा विकल्प खड़ा नहीं होता कि मेरा पिता मर

गया। वरन् बिना कोई शंका के वह पुत्र समझ जाता है कि मेरे पिताजी यहाँ से चले गये, तो उनका अभाव नहीं हो गया। पिताजी इस स्थान पर नहीं है लेकिन अन्यत्र कहीं भी उनका अस्तित्व है, इसीप्रकार जब हम यह बोलते हैं कि इस शरीर में से जीव निकल गया तो इसका मतलब बिना कोई शंका के हम यह स्वीकार करते हैं कि उस शरीर से निकल जाने वाले जीव का अभाव नहीं हो गया वरन् कहीं न कहीं उसका अस्तित्व है अवश्य।

ऐसी परिस्थिति में मुझे यह मानना ही पड़ेगा कि वर्तमान में प्राप्त मेरी असमान जातीय पर्याय को, जिसको अभी तक मैंने “मैं” सरीखा मान रखा था, वह मेरी भूल थी। इन दोनों की मिली-जुली इस दशा में भी, शरीर छूट जाने पर जो अलग हो जावेगी और कहीं न कहीं कायम रहेगी अर्थात् जिसका अस्तित्व नाश नहीं होगा, ऐसी जो भी शक्ति है, जिसको आत्मा, जीव आदि किसी भी नाम से कहो, वह एकमात्र “मैं” हो सकता हूँ। यह शरीर अथवा यह मिली-जुली पर्याय “मैं” नहीं हो सकता। इस प्रकार अनेक तर्क-वितर्कों के द्वारा आगम, युक्ति, अनुमान एवं स्वानुभव से यह पक्का निर्णय हो जाना चाहिए कि इस शरीर के अन्दर रहते हुए भी यह जीव ही “मैं” हूँ, यह शरीर भले ही जीव के साथ रहे, लेकिन वह “मैं” नहीं हो सकता।

ऐसी अकाट्य श्रद्धा, विश्वास, प्रतीति, निर्णय प्रगट हो जाने पर ही धर्म समझने की पात्रता उत्पन्न होगी। क्योंकि जिस पात्र जीव को ऐसी अकाट्य श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है उसकी ही साधना का केन्द्र बिंदु भी एकमात्र अपना आत्मा ही हो जाता है। धर्म समझने के लिए इधर-उधर उपयोग का भ्रमाने की भटकन समाप्त होकर, अपनी सम्पूर्ण शक्ति, एकमात्र अपने आत्मा की ओर ही केन्द्रित हो जाती है। अतः उसको समझने में सुगमता भी प्राप्त हो जाती है।

उपरोक्त निर्णय की पुष्टि इन विचारों से भी होती है कि जिसको धर्म करना है वह स्वयं अगर नष्ट हो जावे-भष्मीभूत हो जावे तो धर्म क्यों करना ? उस धर्म का फल पाने के लिए तो उसका अस्तित्व ही नहीं रहेगा अतः जो कायम रहे यानी जिसका भविष्य में भी अस्तित्व बना रहे तो वह धर्म का फल प्राप्त कर सकेगा । अतः वर्तमान शरीर के अन्दर रहने वाला जीव है वह ही “मैं” हूँ और मेरा कभी नाश भी नहीं होगा । इसलिए धर्म का फल भी मैं ही प्राप्त करूँगा । अतः यह जीवात्मा ही, “मैं” जीव हूँ यह शरीर “मैं” नहीं हूँ इसलिये मुझे अर्थात् “आत्मा को, आत्मा के लिए ही, आत्मा में ही, मेरा धर्म होगा,” ऐसा विश्वास जाग्रत करे कि “मुझे आत्मा के धर्म का स्वरूप समझकर अपने ही लिए, अपने में ही धर्म प्रगट करना है ।”

तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम पूर्ण पुरुषार्थ पूर्वक यह निर्णय करना आवश्यक है कि धर्म किसको करना है अर्थात् “मैं” कौन हूँ ।

धर्म कहाँ होता है ?

यह निर्णय करने के पश्चात् कि धर्म अर्थात् आत्मा को करना है-यह निर्णय करना आवश्यक हो जाता है कि वह आत्मा का धर्म आत्मा में ही होता है अथवा आत्मा के अतिरिक्त अन्य द्रव्य शरीरादि में होता है । इसका निर्णय करने के भी पहले यह समझना चाहिए कि धर्म के विपरीत, अधर्मभाव क्या है और कहाँ उत्पन्न होता है ?

आत्मा अपने अन्दर होने वाले जिन भावों को दूर करना चाहता हो वे अधर्मभाव हैं तथा जिन भावों को बनाए रखना चाहता हो वे ही धर्मभाव हैं ।

अतः अभी जो पापभाव अथवा आकुलता का भाव आत्मा में हो रहा है वही तो अधर्मभाव है; उसको टालकर उस के स्थान पर ही तो मुझे धर्मभाव, अनाकुल अर्थात् शांतभाव उत्पन्न करना है ।

अतः इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए कि “धर्म कहाँ होता है” यह खोज भी आवश्यक हो जाती है कि अधर्मभाव अर्थात् आकुलता कहाँ होती है ।

अधर्मभाव कहाँ होता है ?

यह तो हमको प्रत्यक्ष अनुभव है कि आकुलताभाव मेरी आत्मा में ही होता है । मेरे सबसे नजदीक रहने वाले शरीर में मेरी आकुलता नहीं होती, मेरे अत्यन्त निकटवर्ती जिनको अभिन्न अंग अथवा अर्द्धांगिनी भी कहा जाता है ऐसी स्त्री आदि अन्य कोई भी व्यक्ति हों, उनको भी मेरी आकुलता नहीं होती । मेरी आकुलता तो मात्र एक मेरी आत्मा के ही वेदन में आती है । उस आकुलता की उत्पत्ति में बाह्य कारण अनेक हो सकते हैं, लेकिन आकुलता का वेदन तो आत्मा को ही, अपनी स्वयं की अवस्था में होता है साथ में यह भी विश्वास होता है कि यह आकुलता हमेशा बनी भी नहीं रहती, नष्ट भी हो जाती है । अतः जहाँ वर्तमान में आकुलता हो रही है, उस ही के स्थान पर अर्थात् आत्मा की अवस्था में ही, उस आकुलता को टालकर, निराकुलता अर्थात् धर्मभाव प्रगट किया जा सकता है । अतः उपरोक्त ऊहापोह के द्वारा हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि आत्मा का धर्म, आत्मा में ही अर्थात् आत्मा की स्वयं की पर्याय अवस्था में ही होता है ।

इस विषय को और भी स्पष्ट करने के लिए हम दृष्टान्त से समझें कि जैसे किसी व्यक्ति ने किसी को जान से मार देने की योजना अपने भावों में बनाई और वह अपनी योजनानुसार कार्य करने के लिए उद्यमी भी हुआ, लेकिन बाहर का वातावरण अनुकूल नहीं मिलने से वह उसको मार नहीं सका । तो विचार करना चाहिए कि उस व्यक्ति के द्वारा उस व्यक्ति का घात तो हुआ नहीं, फिर भी उसने हिंसारूप अधर्मभाव किया या नहीं ? और किया है तो वह भाव कहाँ हुआ था ? इसीप्रकार एक डाक्टर किसी मरीज का ऑपरेशन कर रहा हो और कदाचित् ऑपरेशन

करते समय ही उस मरीज का देहावसान हो जावे तो विचार करिए कि डॉक्टर को मरीज के मारने रूप पापभाव माना जावेगा या बचाने का पुण्यभाव? और ऐसा क्यों माना गया? क्योंकि डॉक्टर ने तो अपने आत्मा में होने वाले भावों में तो बचाने का ही भाव किया था।

इससे निष्कर्ष निकलता है कि जिसप्रकार हिंसा, अहिंसा भाव आत्मा में ही होता है उसी प्रकार धर्म अर्थात् निराकुल भाव भी आत्मा में ही उत्पन्न किया जा सकेगा।

धर्म प्राप्त करने का मार्ग

जिन उपायों के द्वारा आत्मा में होने वाली आकुलता को हटाकर निराकुलता उत्पन्न की जा सकती है, उन ही सब उपायों को जिनागम में धर्म प्राप्त करने का मार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग के नाम से संबोधन किया है। उस निराकुलरूपी धर्मदशा प्राप्त करने के अनुकूल, शारीरिक क्रिया तथा बाहर के संयोग अर्थात् वातावरण को भी धर्मप्राप्ति में बाधक नहीं होकर सहकारी होने पर, उनको भी जिनागम में व्यवहार से धर्म का मार्ग कहा गया है। लेकिन अगर वे बाधक हों तो, उनको व्यवहार से भी धर्म का मार्ग नहीं माना जा सकता। इस विषय पर विस्तार से चर्चा आगे करेंगे। आत्मा को सुखी होना है अतः सुखी होने का उपाय विस्तार से समझे बिना एवं उस रूप अपनी परिणति बनाये बिना यह आत्मा सुखी कैसे हो सकेगा ?

उपरोक्त निर्णय होने के पश्चात् सहज ही जिज्ञासा खड़ी होना स्वभाविक है कि उस धर्म और उसके मार्ग का स्वरूप क्या है; जिसके द्वारा इस आत्मा को अपनी पर्याय में धर्म उत्पन्न करना है। क्योंकि धर्म के मार्ग की साधना तब ही प्रारंभ हो सकेगी जबकि उसका स्वरूप पहले समझा जावेगा। जैसे कि गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के लिए उसका मार्ग पहले समझना ही पड़ेगा।

धर्म का स्वरूप है, “वत्थु सहावो धम्मो”

“वत्थु सहावो धम्मो” आचार्य महाराज ने धर्म की एक विशद व्याख्या की है। “वत्थु सहावो धम्मो” अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही उस वस्तु का धर्म है; यह धर्म की एक सार्वभौमिक व्याख्या है। अर्थात् विश्व में जो भी जितनी भी वस्तुएं हैं, उन सबमें अपने-अपने स्वभाव हैं, और वे स्वभाव ही उन-उन वस्तुओं के निजधर्म हैं। इस पर निम्न तीन प्रश्न उत्पन्न होते हैं :—

१. वस्तु क्या है ?
२. वस्तु के स्वभाव से क्या आशय है ?
३. वस्तु के स्वभाव को धर्म क्यों कहा गया ?

इन विषयों पर क्रमशः विचार किया जावेगा। इनमें से सर्वप्रथम यह समझेंगे कि “वस्तु क्या है ?”

वस्तु क्या है ?

यह समस्त लोक जिसको हम विश्व भी कहते हैं जो हमको दिखता भी है वह छह प्रकार की वस्तुओं से भरा हुआ है अर्थात् इन छह वस्तुओं के समुदाय को ही लोक अथवा विश्व कहा जाता है। इन छह वस्तुओं को छह द्रव्यों के नाम से भी जाना जाता है अर्थात् छह द्रव्यों के समुदाय को ही विश्व कहते हैं।

वे छह द्रव्य कौन-कौन से हैं, तो उनके नाम हैं — जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। इन छह में धर्म-अधर्म पाप-पुण्य के वाचक नहीं हैं, वरन् ये दोनों धर्मद्रव्य एवं अधर्मद्रव्य नाम की दो अलग-अलग वस्तुएं हैं। इन छह में से जीव और पुद्गल तो सारे विश्व में अनेक रूपों में अनेकों की संख्या में हमको प्रत्यक्ष अनुभव में आते ही हैं। लेकिन बाकी के चार द्रव्य आसानी से समझ में नहीं आ पाते। अतः इनको समझने के पूर्व, हम जीव द्रव्य की ही चर्चा मुख्यरूप से करेंगे, क्योंकि

आत्मा की शांति ही हमारा मूल प्रयोजन है। साथ ही जीवद्रव्य में अशान्ति पैदा करने में पुद्गल द्रव्य का सम्बन्ध होने से पुद्गल द्रव्य की भी चर्चा करेंगे। बाकी के चार द्रव्य— धर्म, अधर्म, आकाश, कालद्रव्य भी हैं लेकिन हमारी आत्मा की अशांति में मुख्य कारण नहीं होने से उनकी चर्चा में हम नहीं उलझेंगे। लेकिन पाठकों को इतना ही मान लेना चाहिए इन चारों का भी अस्तित्व उस ही प्रकार है जिसप्रकार जीव और पुद्गल का है और जीव व पुद्गल का स्वरूप समझ लेने के बाद इनका भी स्वरूप सुगमता से समझ में आ जावेगा। इसप्रकार वर्तमान में जीव ही हमारे समझने के लिए मुख्य विषय रहा एवं गौणरूप से पुद्गल को भी समझना है।

यह छह द्रव्यों के समुदायरूप लोक, अनन्ते जीवद्रव्य अनन्तान्त पुद्गलपरमाणु एवं एक-एक धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य आकाशद्रव्य एवं असंख्यात कालाणुओं से भरा हुआ है अर्थात् अनन्तान्त वस्तुओं के रहने का स्थान है।

इस लोक की अनन्तान्त वस्तुओं में से, मैं भी एक जीवद्रव्य हूँ, “मुझे ही मेरे लिए धर्म करना है, इसलिये मुझे मेरा ही स्वरूप समझना मुख्य है”। — इस दृष्टिकोण को मुख्य रखकर मुझे धर्म का स्वरूप समझना है।

इस प्रकार “वस्तु क्या है” यह समझा।

वस्तु का स्वभाव क्या है ?

इसका दूसरा चरण समझने के लिए सर्वप्रथम यह समझना है कि सभी वस्तुओं में स्वभाव का अर्थ क्या होता है ? स्वभाव का अर्थ अपनी-अपनी क्वालिटी या अपने-अपने गुण। जगत में जो भी वस्तुएँ हैं वे सभी अपनी-अपनी क्वालिटी, स्वभाव, गुण, विशेषता जरूर रखती हैं। इन क्वालिटियों में यानी स्वभावों में, सभी वस्तुओं में एक रूप से पाये जाने वाले स्वभावों को सामान्य गुण कहते हैं एवं जो स्वभाव अनन्त

वस्तुओं में से किसी एक ही द्रव्य में अर्थात् छह द्रव्यों में से किसी एक ही प्रकार के द्रव्यों में पाया जाता हो उसको विशेष स्वभाव अर्थात् विशेष गुण कहते हैं। ये विशेष गुण ही उन वस्तुओं की पहचान के लक्षण कहे जाते हैं।

सभी द्रव्यों में सामान्य रूप से पाये जाने वाले गुणों में सबसे मुख्य है—“अस्तित्व गुण।” कहा भी है “सत्द्रव्यलक्षणम्”

सत्द्रव्यलक्षणम्

आचार्यों ने सभी वस्तुओं का मुख्य स्वभाव बताया कि हर एक द्रव्य किसी भी हालत में किसी भी स्थान पर हो, लेकिन उसका अस्तित्व रहना ही मुख्य स्वभाव है। आचार्य उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा भी है— “सत्द्रव्यलक्षणं” अर्थात् अस्तित्व रहना-कभी नाश नहीं होना ही वस्तु का सबसे मुख्य लक्षण है। इस सद् स्वभाव को समझने से ऐसी श्रद्धा उत्पन्न होनी चाहिए कि —“मैं भी एक जीवद्रव्य हूँ और मेरा भी सत्ता लक्षण है, अतः मेरा कभी किसी भी प्रकार से कोई नाश सर्वथा नहीं कर सकता। यही कारण है कि मेरा जीवद्रव्य अनादि से अभी तक भी है और आगे भी किसी भी रूप में हो तैं कायम रहूँगा। मेरी सत्ता का अभाव कभी भी नहीं हो सकेगा। इसीप्रकार जगत के जितने भी द्रव्य हैं उनकी भी सत्ता कोई नष्ट करना चाहे तो भी नहीं कर सकता।”

पंचाध्यायी में कहा भी है :—

तत्त्व सत् लक्षण वाला है, सत्मात्र है, तथा स्वतः सिद्ध है, इसलिए अनादि-निधन, स्वसहाय, निर्विकल्प भी है।

इन विचारों मात्र से भी अपने आप में अनन्त निर्भयता उत्पन्न होती है। तात्पर्य यह है कि जगत में जितने भी द्रव्य हैं, जाति की अपेक्षा छह प्रकार के एवं संख्या की अपेक्षा अनंतानंत। वे सभी द्रव्य हर एक अलग-अलग अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्तावान पदार्थ हैं, उनमें से किसी की

भी सत्ता में कोई भी किसी प्रकार से बाधा नहीं पहुँचा सकता। अतः मैं भी एक जीव पदार्थ हूँ। मेरी सत्ता में भी कोई बाधा डालने वाला इस जगत में नहीं है तथा मुझे भी किसी भी अन्य एक पदार्थ की भी सत्ता में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है आदि-आदि।

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्

यहाँ पर सहज ही प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि जब वस्तु का अस्तित्व रहना ही स्वभाव है तो वह एकरूप में ही अनादि अनन्त रहनी चाहिए थी, यह विविधपना कैसे है ? इसके समाधानस्वरूप आचार्य उमास्वामी ने दूसरा सूत्र दिया कि “उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्” अर्थात् सत् रूप वस्तु हमेशा एकरूप ही नहीं रहती, वरन् वह अपनी सत्ता को कायम रखते हुए भी अनेक प्रकार की नवीनता हर समय करती रहती है। ऐसा ही वस्तु का अनादि-अनन्त स्वभाव है।

उदाहरणस्वरूप हम एक जीवद्रव्य के संबंध में विचार करें, इसमें हमको हर समय परिवर्तन होता हुआ ख्याल में आता है। जैसे ही कभी क्रोध भाव हुआ वह भी हर समय घटता-बढ़ता है, एक-सा नहीं रह पाता और कभी क्रोध के स्थान पर मान का भाव भी आ जाता है, आदि-आदि अनेक प्रकार से परिवर्तन होता हुआ अनुभव में आता है। लेकिन वे सब परिवर्तन वाले भाव जिसमें हो रहे हैं ऐसा वह जीवद्रव्य, स्वयं ज्यों का त्यों, हर परिवर्तन के समय तथा बाद में भी एक सा बना रहता है।

इसी प्रकार पुद्गल में भी देखें तो उसमें भी परिवर्तन होता हुआ हमको प्रत्यक्ष ज्ञान में आता है। रोटी आदि खाद्य पदार्थों के परमाणु, भोजन के बाद शरीर में अनेक प्रकार से परिणमन करते हुए जानने में आते हैं। जैसे उस भोजन के परमाणुओं में से कुछ हड्डीरूप, कुछ मांसरूप, कुछ मज्जारूप, कुछ खून-रक्त रूप, कुछ पेशाबरूप, कुछ मलरूप आदि अनेक-अनेक रूप से परिणमते हुए प्रत्यक्ष अनुभव में आते हैं, तदुपरान्त वे ही मलरूप परमाणु खाद के रूप में खेत में पहुँच जाते हैं, कालान्तर में वे ही गेहूँ रूप होकर फिर हमारे खाने योग्य बन जाते हैं, आदि-आदि।

इन सब दृष्टान्तों से यह सिद्ध होता है कि हर एक पदार्थ यानी द्रव्य अपने सत्ता को कायम रखता हुआ भी, हर समय अवस्था बदलता ही रहता है। इसी को शास्त्रीय भाषा में, सत्ता को ध्रुव एवं बदलने का उत्पाद-व्यय के नाम से समझाया गया है। जैसे एक द्रव्य अपनी अनादि सत्ता को ध्रुवरूप से टिकाये हुए रखकर, अवस्थाओं को हर समय पलटता ही रहता है अर्थात् पूर्व अवस्था का व्यय करते हुए नवीन अवस्था का उत्पाद करता ही रहता है। जिस अवस्था का उत्पाद करता रहता है उस को ही पर्याय के नाम से शास्त्रों में संबोधित किया गया है।

गुणपर्ययवद्द्रव्यं

समस्त द्रव्यों की ध्रुवता और परिणमन को स्पष्ट करते हुए आचार्य महाराज ने फिर सूत्र दिया है :- “गुणपर्ययवद्द्रव्यं” अर्थात् उन सब द्रव्यों की ध्रुवता एवं परिणमन अपने-अपने गुणों में अर्थात् स्वभावों में ही होता है। कोई भी द्रव्य अपने-अपने गुणों के अतिरिक्त, अन्य द्रव्य के गुणों में किसी भी प्रकार से परिणमन नहीं कर सकता। जैसे शरीर के किसी भाग में दर्द उत्पन्न होने पर आत्मा बहुत तीव्रता से इच्छा करता है कि वह दर्द मिट जावे। लेकिन शरीर के परमाणु अपने गुणों में ही परिणमन करते हैं, आत्मा अन्य द्रव्य होने से वह अपने गुणों में ही इच्छारूप परिणमन करता है। लेकिन आत्मा भिन्न द्रव्य होने से और शरीर भिन्न द्रव्य होने से उसके परमाणुओं में कुछ भी फेरफार नहीं कर सकता। कारण यही है कि हर एक द्रव्य अपने-अपने गुणों को ध्रुवरूप से कायम रखते हुए, अपने-अपने गुणों में ही परिणमन कर सकते हैं, लेकिन अन्य के परिणमन में हस्तक्षेप करने की उसमें सामर्थ्य ही नहीं है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जगत में जितने भी पदार्थ यानी द्रव्य हैं, वे सत्तारूप द्रव्य अनादि अनन्त रहने वाले हैं। वे सब अपने गुण अर्थात् स्वभाव अर्थात् अपनी-अपनी क्वालिटियों

के समुदाय हैं। जब वह द्रव्य स्वयं अनादि अनन्त रहने वाले सत्तारूप पदार्थ हैं तो, उन द्रव्यों के अपने-अपने गुण भी सत्तारूप अनादि अनन्त रहने वाले सहज ही सिद्ध हो जाते हैं अर्थात् गुणों के समुदायस्वरूप हर एक द्रव्य स्वयं ध्रुव एक-सा अनादि अनन्त बना ही रहता है, कभी नष्ट नहीं हो सकता। लेकिन साथ ही उन गुणों का समुदायरूप द्रव्य हर समय परिवर्तन भी करता ही रहता है। क्योंकि स्वयं कायम रहते हुए भी प्रतिक्षण बदलते रहना वस्तु का स्वभाव है और ऐसा ही प्रत्यक्ष अनुभव में भी आता है। इसलिये इसमें शंका का कोई अवकाश ही नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में जब वह द्रव्य स्वयं पलटता है तो, उसके सभी गुण भी पलटे बिना कैसे रह सकते हैं ? अतः सभी गुणों की, हर समय नवीन-नवीन रूप से उपस्थिति हमारे अनुभव में आती है। जैसे, मेरे आत्मा में ही अनन्त गुण हैं। विचार करें तो उनमें से एक समय में ज्ञान, पहले समय किसी को जानता था दूसरे समय दूसरे को जानता है। उसी समय चारित्रगुण की विपरीतता में कभी क्रोध आता है, दूसरे समय ही मान आ जाता है या क्रोध ही कम ज्यादा हो जाता है। इसीप्रकार सुख के स्थान पर दुःख और दुःख के स्थान पर सुख आदि-आदि परिवर्तन प्रत्यक्ष अनुभव में आते हैं, फिर भी वह जीवद्रव्य एवं उसके ज्ञान-चारित्र आदि गुण तो स्थाई रूप से बने ही रहते हैं। उनकी अवस्थाएँ बदल जाने पर भी, वे तो स्वयं बने ही रहते हैं।

स्वतंत्रता

इसप्रकार उपर्युक्त ऊहापोह से एक महा सिद्धान्त का उदय हुआ कि जगत का हर एक पदार्थ अनन्त गुणों का समुदाय होते हुए भी, नवीन-नवीन अवस्थाओं को प्रगट करता हुआ अपनी सत्ता अनादि अनन्त बनाये हुए है। अर्थात् कोई भी अन्य द्रव्य या उसका कोई भी अंश, किसी अन्य द्रव्य की सत्ता में किंचितमात्र भी दखल नहीं दे सकता, तो उस द्रव्य के किसी भी गुण में दूसरे द्रव्य का दखल कैसे हो सकता है ? और जब

किसी गुण में किसी का दखल ही नहीं हो सकता तो उस गुण की किसी समय की किसी भी पर्याय में किसी का दखल कैसे संभव हो सकता है ?

इसका अर्थ यह निकलता है कि द्रव्य तो अपनी स्वयं की सत्ता निर्वाध रूप से अनादि से अनन्त काल तक बनाये हुए ही रहेगा, लेकिन उसके स्वयं के ही अंश किसी भी गुण की किसी एक पर्याय की भी सत्ता, स्वयं अपनी स्वतंत्रता से निर्वाधरूप से बनी ही रहती है ।

पंचाध्यायीकार ने भी इसी का समर्थन किया है :—

तत्त्व सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धं ।

तस्माद् अनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च ॥

अर्थात् तत्त्व या पदार्थ सत्त्वक्षण वाला है, सत् मात्र है तथा स्वतः सिद्ध है - किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं है इसलिए वह अनादि निधन होने से स्वसहाय स्वतंत्र है एवं निर्विकल्प (द्वैत नहीं) है ।

इन सबसे सिद्ध होता है कि द्रव्य एवं गुण तो स्वतंत्र हैं ही, लेकिन हर एक द्रव्य के हर एक गुण की एक-एक पर्याय भी स्वतः सिद्ध एवं स्वसहाय है । उस पर्याय का स्वामी वह द्रव्य ही है, अन्य किसी भी द्रव्य का, उसमें किसी भी प्रकार से हस्तक्षेप संभव ही नहीं हो सकता ।

समयसार गाथा ३ की टीका में भगवान् अमृतचन्द्राचार्य ने हर एक द्रव्य की स्वतंत्रता निम्नप्रकार सिद्ध की है :—

“समयशब्देनात्र सामान्येन सवा पदार्थो भिधीयते । समयत एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति निरुक्तेः । ततः सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोकेये यावन्तः केचना वेप्यर्थास्ते सर्व एवं स्वकीयद्रव्यान्तर्मग्नानन्तस्वधर्मचक्रयुंबिनोपि परस्परमयुंबन्तोत्यन्तप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादपतन्तः पररूपेणापरिणमनादविनष्टानन्तव्यक्ति त्वाट्टंकात्कीर्णा इव तिष्ठन्तः समस्तविरुद्धाकार्य हेतुतयाशश्वदेव विश्वमनुगृह्यन्तो ।”

अर्थ :- यहाँ, “समय” शब्द से सामान्यतया सभी पदार्थ कहे जाते हैं क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार “समयते” अर्थात् एकीभाव से अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त होकर जो परिणमन करता है सो “समय” है। इसलिये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, जीवद्रव्यस्वरूप लोक में सर्वत्र जो कुछ जितने पदार्थ हैं, वे सब निश्चय से वास्तव में एकत्वनिश्चय को प्राप्त होने से ही सुन्दरता को पाते हैं। क्योंकि अन्य प्रकार से उनमें संकर, व्यतिकर आदि सभी दोष आ जायेंगे। वे सब पदार्थ अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहने वाले अनन्त धर्मों के चक्र समूह का चुम्बन करते हैं-स्पर्श करते हैं, तथापि वे परस्पर एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते। अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से तिष्ठ रहे हैं, तथापि से सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते। पररूप परिणमन न करने से अपनी अनन्त व्यक्तित्ता (प्रगटता) नष्ट नहीं होती। इसलिए जो टंकोत्कीर्ण की भाँति शाश्वत स्थित रहते हैं और समस्त विरुद्ध कार्य तथा अविरुद्ध कार्य दोनों की हेतुता (निमित्त भाव) से वे सदा विश्व का उपकार करते हैं-टिकाये रखते हैं।”

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हर एक द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्यायों में ही निरन्तर परिणमन करते रहते हैं, लेकिन उन्हीं आकाश के प्रदेशों में स्थित अन्य द्रव्य के गुण-पर्यायों में किञ्चित्मात्र कुछ भी करने की सामर्थ्य नहीं रखते यही कारण है कि अनन्त द्रव्यों का अपना-अपना अस्तित्व निर्वाधतया अनादि अनन्त सत् रूप से कायम बना रहता है।

सारांश यह निकला कि मेरा जीवद्रव्य, मेरे ही शरीर के पुद्गल परमाणुरूप द्रव्यों का, अत्यन्त नजदीकी होते हुए भी कुछ भी नहीं कर सकता। अनुभव में भी आता है कि शरीर में बुखार आने पर आत्मा अन्दर में अनेक विचार उस बुखार को हटाने का करता रहता है, लेकिन उन विचारों का अंशमात्र भी उन शरीराकार पुद्गल परमाणुओं पर कोई

असर नहीं होता। ऐसा ही सर्वत्र मानकर अपने कर्तव्य के मिथ्या अभिमान को छोड़कर सब द्रव्यों के परिणमनों की ओर से उपेक्षित होकर, आत्मसन्मुख होने का पुरुषार्थ प्रगट करना ही कर्तव्य है।

यह चर्चा वस्तु का स्वभाव जानने के अन्तर्गत ही चल रही है।

गुण क्या हैं ?

उपर्युक्त सारे विवेचन के बाद एक जिज्ञासा खड़ी होती है कि जिन गुणों की एक-एक समय की एक-एक पर्याय की स्वतंत्रता सिद्ध की गई है, वे गुण क्या हैं व कौन-कौन से हैं ?

छह द्रव्यों के समुदाय को ही विश्व अर्थात् लोक कहते हैं, उनमें जाति की अपेक्षा द्रव्य छह होते हुए भी संख्या की अपेक्षा अनन्त-अनन्त हैं, उनमें से हर-एक द्रव्य में अपने-अपने में ही रहने वाले अनन्त गुण अर्थात् स्वभाव अर्थात् क्वालिटी होती है। जिनवाणी में इन सबके गुणों की विशेषताओं का अनेक प्रकार से विभाजन किया गया है।

सामान्य एवं विशेष गुण

उपर्युक्त छह द्रव्यों के गुणों में जो कि हर एक द्रव्य में संख्या की अपेक्षा अनन्त होते हैं, उन अनन्त गुणों में बहुत से गुण ऐसे भी हैं जो कि सभी द्रव्यों में मिलते हैं। जैसे अस्तित्वगुण अर्थात् हर एक द्रव्य का अस्तित्व कायम बने रहना। प्रेमयत्व गुण अर्थात् ज्ञान में आ सकने की योग्यता यानि ज्ञेयत्वपना। द्रव्यत्वगुण अर्थात् कूटस्थ की तरह नहीं रहना, परिणमते रहना। अगुरुलघुत्व अर्थात् अपनी सीमा में बने रहना, न बहुत छोटा होकर ज्ञान में आवे और न बहुत बड़ा हो जावे आदि-आदि अनन्त ऐसे गुण हैं जो सभी द्रव्यों में मिल जाते हैं। लेकिन ऐसे गुणों के द्वारा उन द्रव्यों को भिन्न-भिन्न रूप से पहिचाना नहीं जा सकता, अतः उनको उन द्रव्यों का लक्षण नहीं कहा जाता। ऐसे गुणों को ही शास्त्रीय भाषा में सामान्य गुण कहा गया है। लेकिन नीचे कहे गये जीव के ज्ञान-दर्शन

आदि एवं पुद्गल के स्पर्श-रस आदि विशेष गुण कहे गये हैं। उन विशेष गुणों के द्वारा ही उन-उन द्रव्यों को पहिचाना जा सकता है। अतः उन गुणों को लक्षण के रूप में भी कहा गया है।

लक्षण किसे कहते हैं ?

लक्षण उसे कहते हैं- “जो लक्षण, अपने लक्ष्य में तो मिले लेकिन अन्य किसी में न मिले और वह लक्ष्य किसी भी समय उस लक्षण से अलग नहीं हो सके।”

विशेष गुण

वे विशेष गुण इस प्रकार हैं, जिनको लक्षण भी कहा गया है- (१) एक जीवद्रव्य तो चेतन, बाकी पाँच द्रव्य अचेतन, (२) एक पुद्गल तो मूर्तिक एवं बाकी जीवसहित पाँचों द्रव्य अमूर्तिक, (३) जीवद्रव्य के विशेष गुण, ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त, (४) पुद्गल द्रव्य के विशेष गुण, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण आदि अनन्त, (५) धर्मद्रव्य का गतिमान जीव पुद्गल के गमन में निमित्तता आदि अनन्त, (६) अधर्मद्रव्य, गतिमान होकर स्थिति को प्राप्त जीव पुद्गल को निमित्तता आदि अनन्त, (७) आकाश, सभी द्रव्यों का अवकाश देने में निमित्तता आदि अनन्त, (८) इसीप्रकार कालद्रव्य द्रव्यों के परिणमन में निमित्तता आदि अनन्त।

उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर यह बहुत स्पष्ट हो जाता है कि हर एक द्रव्य के उपर्युक्त कहे हुए गुण, अपने-अपने द्रव्यों की पहिचान कराने के लिए कितने उपयोगी हैं। इन गुणों के आधार पर ही हम जगत के छह द्रव्यों के भिन्न-भिन्न अस्तित्व का निश्चय कर सकते हैं।

इसप्रकार समझने पर यह स्पष्ट फलित होता है कि हर एक द्रव्य चाहे वह कोई भी एक जीवद्रव्य हो अथवा एक पुद्गल परमाणु द्रव्य हो, सभी अपनी-अपनी अनन्त गुण रूपी सम्पदा से भरे हुए हैं एवं अपनी उस सम्पत्ति से भरपूर अनादि अनन्त रह रहे हैं। उन सबमें अपना-अपना

अस्तित्वगुण होने से वे अपनी-अपनी गुणरूपी शक्ति के द्वारा विराजमान हैं, उनकी सत्ता में किसी को भी हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। अतः न तो कोई उनका नाश कर सकता है और न कोई उनके किसी भी एक गुण को भी कम-ज्यादा कर सकता है। इस ही से सहज ही ऐसी श्रद्धा उदित होती है कि मैं स्वयं भी एक जीवद्रव्य हूँ, अपने अनन्त गुणों से भरा पूरा अपनी स्वतंत्र सत्ता से विराजमान हूँ। जगत में कोई भी ऐसा नहीं है जो मेरी सत्ता में अतिक्रमण करे अथवा बाधा पहुँचावे। इस प्रकार से अपने में अनन्त निर्भयता प्रगट होती है एवं दीनता नष्ट हो जाती है तथा पर में कर्तृत्वबुद्धि का मिथ्या अभिमान भी सहज ही समाप्त हो जाता है।

पर्याय क्या है ?

गुणों के परिणमन को पर्याय कहते हैं। गुणों का समूह जो द्रव्य है वह द्रव्य, जब स्वयं परिणमन करता है अर्थात् पलटता है तो गुणों का परिणमन भी स्वतः ही हो जाता है। इससे फलित होता है कि द्रव्य का परिणमन कभी भी रुक सकता नहीं, अतः पर्याय के बिना का द्रव्य भी कभी हो सकता नहीं; ऐसी वस्तु का स्वरूप ही है। इस ही कारण आगमका वचन भी है—“उत्पादव्ययधौव्ययुक्तंसत्”, “सत्द्रव्यलक्षणं” अर्थात् वस्तु की सत्ता तब ही संभव है जबकि वह, गुणों का समूहरूप द्रव्य, स्वयं ध्रुवरूप रहकर उत्पाद-व्यय करता रहे अर्थात् पलटता रहे तब ही उसका अस्तित्व रहना संभव है।

प्रत्यक्ष अनुभव में भी आता है कि बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था तीनों अवस्थाएँ पलट कर ही हुई हैं लेकिन जिसको ये अवस्थाएँ हुईं वह तो तीनों समय में ध्रुवरूप वही का वही रहा। इस ही प्रकार इस आत्मा के एक ज्ञानगुण पर विचार करें तो गत पाँच वर्षों में जितने प्रकार की अच्छी अथवा बुरी जो भी घटनाएँ घटी हों, उन घटनाओं को जब भी याद करें- प्रत्यक्षवत् हो जाती हैं। इस पर से ही सिद्ध हो जाता है कि

आत्मा का ज्ञानगुण सब ही अवस्थाओं के काल में ध्रुवरूप से कायम था तब ही तो उन घटनाओं का ज्ञान इस समय आ जाता है और अगर ध्रुवरूप ही रहता और पलटता ही नहीं तो अलग-अलग समय में होनेवाली घटनाओं की जानकारी रूपी अनेकता ज्ञान में कैसे आ सकती थी ? अतः स्पष्ट है कि ज्ञानगुण एवं ज्ञानगुण के साथ-साथ अन्य अनंत गुणों का धारी आत्मा स्वयं ध्रुवरूप कायम रहकर भी हर समय उत्पाद-व्ययरूप परिणमन करता ही रहा है और करता ही रहेगा । ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है ।

इस विषय पर और भी गंभीरता से विचार करें कि जब हम किसी भी वस्तु को ज्ञान में लेना चाहें तो पर्याय के माध्यम से ही वस्तु ज्ञान में आती है क्योंकि वस्तु का अस्तित्व ही किसी न किसी अवस्था रूप ही होता है । बिना किसी भी अवस्था के वस्तु नहीं रहती और अवस्था वस्तु की ही होती है । इसलिए दोनों अभिन्न ही हैं । वस्तु स्वयं पलटती हुई अपनी अवस्थाओं को बदलती रहती है, उसके उन परिवर्तनों के लिए, किसी भी अन्य कोई की भी किसी भी प्रकार की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि यह तो वस्तु का स्वभाव ही है कि वह निरपेक्षतया स्वतः ही उत्पाद व्यय करते हुए भी ध्रुवरूप हर समय बनी रहे, उस रूप ही उसका अस्तित्व भी बना हुआ है ।

दृष्टान्त के लिये— जैसे संसार दशा में मेरा एक जीवद्रव्य ही है, वह देवाकार, तिर्यचाकार, मनुष्याकार आदि किसी न किसी अवस्था में ही मिलेगा । बिना किसी आकार के भी क्या कभी मिल सकेगा ? लेकिन सब आकारों को परिवर्तन करते हुए भी क्या आकारों के नाश हो जाने के साथ-साथ जीवद्रव्य का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है ? ऐसा तो देखा नहीं जाता । लेकिन जब यह जीवद्रव्य, अपनी मनुष्याकार पर्याय को छोड़कर तिर्यचाकार पर्याय को प्राप्त करता है तो इस जीव के चिरकाल के साथी ये शरीर रूप रहने वाले पुद्गल परमाणुओं का स्कन्ध,

उनमें यह जीवद्रव्य कुछ भी परिवर्तन कर सकता। जीव तो अन्य पर्याय के आकार अपने प्रदेशों को परिवर्तित कर लेता है लेकिन साथ में ही अत्यन्त नजदीक रहने वाले शरीर के किसी एक भी परमाणु को मनुष्याकार परिणमन नहीं करा सकता। अतः गंभीरता से विचारना चाहिए कि इसका क्या कारण है ?

इसका कारण मात्र एक ही है कि जो द्रव्य परिणमन करेगा उसके उस परिणमन को ही तो पर्याय कहते हैं। अतः जब कोई भी द्रव्य परिणमन करेगा तो उसकी सीमा, मर्यादा अपनी स्वयं की पर्याय तक ही है, अन्य द्रव्य उसी समय अपनी पर्यायरूप परिणमन आप ही कर रहा है, उसमें दूसरा द्रव्य कैसे हस्तक्षेप कर सकेगा ? विश्व के सब ही द्रव्य स्वतः ही अपनी पर्यायों को बेरोक-टोक के निरन्तर करते ही रहते हैं। उनका कार्य कभी भी किसी भी समय रुकता नहीं और बिना पर्याय का द्रव्य भी हो सकता नहीं। अतः द्रव्य हमेशा पर्याय रूप में ही प्राप्त होता है।

निष्कर्ष यह है कि विश्व में जाति अपेक्षा छह प्रकार के, संख्या अपेक्षा अनंतानंत द्रव्य हैं। उनमें से हर एक द्रव्य अनवरत रूप से अपनी-अपनी पर्यायों को करता ही रहता है। तब दूसरा द्रव्य अगर यह माने कि मैंने इस द्रव्य की पर्याय को कर दिया अथवा मैं अन्य द्रव्य की पर्याय को कर सकता हूँ, तो उसका ऐसा मानना मिथ्या है। यह मानना इसीप्रकार का होगा जैसे कोई अपने पड़ोसी के मकान को अपना मानकर उसमें कुछ भी हेरफेर करने लगे तो उसको अपराधी ही घोषित किया जावेगा। उसीप्रकार अगर यह जीवद्रव्य, अपने ही शरीर आदि अन्य किसी भी द्रव्य को अपना मानकर उसके फेरफार करने का अधिकार मानेगा तो उसकी आज्ञा तो उस अन्य द्रव्य पर चलेगी नहीं, लेकिन ये जीव अपने को अधिकारी मानने की मिथ्या मान्यता के कारण, निरन्तर दुःखी ही दुःखी होता रहेगा। इसलिये जब तक यह मान्यता नहीं बदलती, तब तक निरन्तर इस दंड को भोगता ही रहेगा। अतः उपरोक्त मिथ्या

मान्यता को छोड़कर, वस्तुस्वभाव को पहिचानकर, यह स्वीकार कर ले कि “मेरी मर्यादा तो मात्र मेरी स्वयं की पर्याय तक ही है, अन्य द्रव्य की पर्याय में कुछ भी कर सकने की मेरे में ताकत ही नहीं है” परद्रव्य अपने परिणमन का स्वयं स्वामी होने से चाहे जैसे परिणमन करे, मैं उसमें कुछ भी नहीं कर सकता। ऐसी यथार्थ-मान्यता के द्वारा अपने आत्मा में अनन्त आकुलता का नाश होकर शांति वर्तने लगती है। उपयोग की बाहर के ओर की दौड़ निर्बल होने लगती है। अतः उपरोक्त विपरीत मान्यता यानी श्रद्धा को बदलने का सर्वोत्कृष्ट लाभ यही है।

इस ही स्वतंत्र वस्तु व्यवस्था को चार अभावों के माध्यम से आगम में विशेष स्पष्ट एवं सिद्ध किया गया है।

चार अभाव के माध्यम से स्वतंत्रता

एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के अस्तित्व के अभाव को, अभाव कहते हैं। वे अभाव चार प्रकार के आगम में कहे गये हैं। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। इसप्रकार इन चार अभावों के माध्यम से वस्तु की एवं उसकी हर एक पर्याय की स्वतंत्रता सिद्ध की गई है।

प्रागभाव :— वर्तमान पर्याय का उसी द्रव्य की पूर्व किसी भी पर्याय में अभाव ही है अर्थात् जो पर्याय वर्तमान में उत्पन्न हुई है उसका अस्तित्व उसी द्रव्य के मात्र वर्तमान में ही है। उससे पहले उस द्रव्य में और उसकी किसी भी पर्याय में अथवा किसी अन्य द्रव्य में किसी भी समय नहीं था। यह सब वर्तमान पर्याय के अस्तित्व की स्वतंत्रता सिद्ध करता है।

प्रध्वंसाभाव :— वर्तमान पर्याय का उसी द्रव्य की आगे होने वाली किसी भी पर्याय में अभाव ही रहेगा, अर्थात् जो पर्याय वर्तमान में उत्पन्न हुई है, उसका अस्तित्व उसी द्रव्य के मात्र वर्तमान में ही है। वर्तमान के बाद आगे भविष्य में अपने द्रव्य में अथवा किसी भी पर्याय में अथवा

किसी भी अन्य द्रव्य में किसी समय भी नहीं रहेगा यह भी उस वर्तमान पर्याय की स्वतंत्रता को सिद्ध करता है।

अन्योन्याभाव :- एक पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय का दूसरे पुद्गल द्रव्य की पर्याय में अभाव रहने को अन्योन्याभाव कहते हैं, अर्थात् एक ही स्कन्ध में अनेक पुद्गल द्रव्य यानी अनेक परमाणु एक साथ रहते हुए भी एक-एक परमाणु की अपनी-अपनी वर्तमान पर्याय में अभाव ही वर्तता है। यह है हर एक परमाणु की हर एक पर्याय की स्वतंत्रता, जैसे एक अधपकी हरी आम की कैरी (आम) है, उस आम के स्कन्ध को हर एक दिन गहराई से देखेंगे तो ज्ञात होगा कि पहले दिन जो परमाणु हरे रूप में थे कालान्तर में उनमें से कुछ परमाणु हरे रूप में हैं और कुछ हरे से पीले हो गये हैं, हर समय उसके हर एक परमाणु स्वतंत्रता से अपनी-अपनी पर्याय को कर रहे हैं। साथ ही रहनेवाला अन्य परमाणु भी स्वयं अपनी पर्याय को स्वतंत्रता से अनवरत रूप से करता हुआ अपना अस्तित्व बनाए हुए है। इसप्रकार हर एक परमाणु की हर एक पर्याय की स्वतंत्रता सिद्ध होती है।

अत्यन्ताभाव :- एक द्रव्य में दूसरे अन्य द्रव्य के अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। शाब्दिक अर्थ से भी स्पष्ट है कि अत्यन्त अभाव = अत्यन्ताभाव अर्थात् एक द्रव्य के अस्तित्व का दूसरे द्रव्य के अस्तित्व में अत्यन्त अभाव ही वर्तता है। जब किसी भी द्रव्य का दूसरे में अत्यन्त अभाव ही है तो वह उस द्रव्य में कुछ भी फेर-फार, मदद, असर, प्रेरणा आदि कैसे कर सकेगा? तात्पर्य यह है कि प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी पर्याय तो कर सकेगा, लेकिन अन्य द्रव्य कि किसी भी पर्याय में किंचित्मात्र भी कुछ भी नहीं कर सकता। क्योंकि उन दोनों का आपस में एक का दूसरे में अत्यन्त अभाव है।

चारों अभाव के प्रकरण से हमको ऐसी शिक्षा प्राप्त होती है और ऐसा श्रद्धान उदित होता है कि मैं एक जीवद्रव्य हूँ, मेरे में, मेरे शरीराकार

अनेक पुद्गल परमाणुओं में से किसी एक भी परमाणु का मैं क्या कर सकता हूँ? क्योंकि उनका मेरे में अत्यन्ताभाव है। मेरी मर्यादा अगर कुछ भी करने की है, तो भी मात्र मेरी वर्तमान पर्याय तक ही सीमित है। भूतकाल में यह पर्याय थी ही नहीं, क्योंकि प्रागभाव के कारण वर्तमान पर्याय का अस्तित्व मात्र वर्तमान में ही है। भविष्यकाल में भी इस पर्याय का अस्तित्व ही नहीं मिलेगा, क्योंकि पर्याय का जीवनकाल ही मात्र एक समय का है। अतः इसप्रकार सिद्ध है कि आत्मा तो अकर्तास्वभावी ही है। मेरे द्रव्य का परद्रव्य में अत्यन्ताभाव होने से, तथा अपनी भूत-भविष्य की पर्यायों का वर्तमान में अभाव होने से, यह जीव किसी प्रकार और कैसे व किस समय, किसी भी द्रव्य एवं पर्याय में क्या कुछ कर सकेगा? इससे स्पष्टतया निर्विवाद सिद्ध है कि “मैं तो आत्मा अकर्तास्वभावी हूँ” ऐसा अंतरंग से स्वीकार होने पर, इस जीव की, परद्रव्य में फेर-फार कर सकता हूँ ऐसी अनादिकालीन चली आ रही मिथ्या मान्यता (अभिप्राय छूट) नष्ट होकर, पर के प्रति स्वामित्व एवं कर्तृत्व का अभिप्राय छूट जाता है एवं तत्संबंधी अनंत अभिमान छूटकर तथा पर में कुछ करने-धरने की मान्यता छूट जाती है, तथा पर के प्रति रहने वाला आकर्षण घट जाने से उपयोग, जो आत्मा को छोड़कर पर सन्मुख रहकर बाहर ही बाहर घूमता रहता था, उसका पर के प्रति आकर्षण घट जाता है और स्वसन्मुख होने का महान पुरुषार्थ प्रगट होता है।

परसन्मुखता के कारण होने वाली आकुलता क्रम-क्रम से छूटती जाती है और आत्मिक शांति प्रगट होती जाती है। यही सच्चा मार्ग है, यही सच्चा उपाय है।

इसप्रकार उपरोक्त चर्चा के माध्यम से हमको यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु का स्वभाव क्या है, अब यह प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक है कि ‘वस्तु के स्वभाव को धर्म क्यों कहा गया है?’ अतः हमारे आत्महित के लिए उस पर चर्चा की जाती है।

वस्तु के स्वभाव को धर्म क्यों कहा गया है ?

इस प्रकरण के अन्तर्गत जिस धर्म की चर्चा की गई है, वह मात्र आत्मा के धर्म की चर्चा नहीं है, वरन् छहों द्रव्यों के स्वभाव की चर्चा है। लेकिन इसके समझे बिना आत्मा के धर्म के स्वरूप का भी निर्णय नहीं हो सकता; और उसका यथार्थ निर्णय हुए बिना, आत्मा का धर्म अर्थात् शांति का प्रगट होना असंभव है। ऐसे वस्तु के धर्म की चर्चा यहाँ की जा रही है।

वस्तु के स्वभाव को उस वस्तु का धर्म क्यों कहा गया है, यह हमारी चर्चा का मुख्य विषय है। इस प्रकरण के प्रारंभ में ही कहा गया था कि “वत्थुसहावो धम्मो” अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही उस वस्तु का धर्म है। इस ही विषय को समझने के लिए वस्तु क्या है, यह समझा एवं वस्तु का स्वभाव क्या है, यह भी समझा। अब वस्तु को अपने स्वभाव में ही रहना हर एक वस्तु का अपना-अपना धर्म है इस विषय को समझना है।

यह तो हम समझ ही चुके हैं कि विश्व में वस्तुएँ जाति अपेक्षा छह प्रकार की होने पर भी संख्या अपेक्षा अनन्त हैं। उनमें से हर एक वस्तु में अपने-अपने स्वभाव यानी गुण अनन्त-अनन्त हैं, तथा हर एक समय में वस्तु स्वयं कायम रहते हुए स्वयं पलटती भी रहती हैं, अर्थात् उस द्रव्य के हर एक गुण परिवर्तित होते रहने से पूर्व अवस्था को छोड़कर नवीन-नवीन अवस्था यानी पर्याय धारण करते रहते हैं।

यह हर एक द्रव्य अर्थात् वस्तु का स्वभाव है।

उस पलटने में ही उस वस्तु के स्वयं के जो स्वभाव हैं, उन-उन स्वभावों जैसी ही नवीन-नवीन पर्यायों रूप से पलटना करता रहे अर्थात् उत्पाद करता रहे, उस ही को उस वस्तु का धर्म कहा जाता है।

प्रवचनसार ग्रंथ की गाथा ९५ में कहा है कि —“स्वभाव को छोड़े बिना जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है तथा गुणयुक्त और पर्याय सहित

है, उसे द्रव्य कहते हैं। लेकिन उन वस्तुओं में से कोई भी वस्तु अपने-अपने स्वभावरूप अर्थात् अपनी जो स्वयं की क्वालिटी है उस रूप पलटना नहीं करके उसमें जरा भी विपरीत रूप अथवा न्यून रूप, पलटना यानी पर्याय को उत्पाद करे, तो वही उस वस्तु का विपरीतपना अर्थात् अधर्म है।

आचार्य अमृतचंद्र ने समयसार गाथा ३ की टीका में लिखा है कि “इसलिये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, जीवद्रव्यस्वरूप लोक में सर्वत्र जो कुछ जितने-जितने पदार्थ हैं वे सब निश्चय से वास्तव में एकत्व निश्चय को प्राप्त होने से ही सुन्दरता को पाते हैं। टंकोत्कीर्ण की भाँति शाश्वत स्थित रहते हैं।”

उपरोक्त ऊहापोह से यह समझ में आता है कि हर एक वस्तु अपने-अपने स्वभाव के जैसी ही नवीन-नवीन पर्याय करता रहे यही हर एक वस्तु का धर्म यानी स्वभाव है, उस ही में उस वस्तु की शोभा है। यह भी सिद्ध है कि हर एक वस्तु ज्यादा काल तक अपने स्वभावरूप ही रह सकती है लेकिन अपने स्वभाव से विपरीत दशा में ज्यादा काल वस्तु का टिके रहना अर्थात् बने रहना भी संभव नहीं है। इन सब कारणों से सिद्ध होता है कि वस्तु का अपने-अपने स्वभावरूप बने रहना ही वस्तु का अपना-अपना धर्म है।

हमारे प्रत्यक्ष अनुभव से भी सिद्ध है कि आत्मा के क्षमारूप भाव, निर्मान्तरूपभाव, मायाचारीरहित भाव एवं निर्लोमन्तरूपभाव अनुभव में आते हैं। साथ ही क्रोधरूपभाव, मानरूपभाव, मायाचारीरूपभाव एवं लोभरूप भाव भी अनुभव में आते हैं। दोनों ही प्रकार के भाव इस आत्मारूपी जीवद्रव्य की ही पर्यायें हैं। दोनों ही प्रकार के भाव बदलते ही रहते हैं इसलिए उनका उत्पाद-व्यय निरन्तर होता ही रहता है। अब समझना यह है कि उन भावों में से धर्मरूप भाव कौन-कौन से हैं एवं

अधर्मरूप भाव कौन-कौन से हैं और उनको धर्म-अधर्म की संज्ञा क्यों दी गई है।

इस संबंध में विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि क्षमा आदि भावों में आत्मा ज्यादा काल ठहर सकता है तथा ठहरना चाहता है इसलिए वे ही आत्मा के स्वाभाविक भाव हैं इसलिए उनको आत्मा का धर्म कहा जाता है। तथा क्रोधादि भावों में ज्यादा काल आत्मा ठहर नहीं सकता एवं ठहरना भी नहीं चाहता इसलिए वे आत्मा के स्वभावभाव नहीं है वरन् विभावभाव हैं। इसलिए इसी दशा को जीवद्रव्य की विभावदशा कही है। लेकिन दोनों ही एक आत्मद्रव्य की ही पर्यायें हैं, उनमें से स्वाभाविक पर्याय रूप परिणमन करते रहने में ही आत्मा की सुन्दरता है अर्थात् आत्मा को शांति की प्राप्ति होती है और विभावदशा में तो आकुलता ही होती है।

उपरोक्त दृष्टान्त के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि जिसप्रकार जीवद्रव्य का धर्म, अपने स्वभाव यानी गुणों के जैसी ही पर्याय उत्पन्न होना है, उसीप्रकार छह द्रव्यों का, संख्या अपेक्षा अनन्त द्रव्यों का धर्म भी अपने-अपने स्वभाव जैसी पर्यायें उत्पन्न होते रहना ही है। स्वभाव से विपरीत भाव वाली पर्याय उत्पन्न करना किसी भी द्रव्य का धर्म ही नहीं है।

इस ही अपेक्षा वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा गया है। इससे सिद्ध हुआ कि विश्व की हर एक वस्तु अपनी-अपनी स्वयं की क्वालिटियाँ अर्थात् गुणरूप ही निरन्तर बनी रहें, यही विश्व की सब वस्तुओं का अपना-अपना धर्म है। इस ही से विश्व शांति संभव है।

**स्वभाव से विपरीत परिणमन करने वाली वस्तुएँ
कौन- कौन सी हैं?**

अब यह समझना है कि विश्व की छह प्रकार की वस्तुओं के धर्म, क्या-क्या हैं। वे वस्तुएँ हैं :— अनन्त जीवद्रव्य, अनंतानंत पुद्गलपरमाणु,

एक धर्मद्रव्य, एक आकाश द्रव्य एवं असंख्यात कालद्रव्य । इनमें से पहले चर्चा कर लें कि इनमें कौन से द्रव्य ऐसे हैं जो स्वभाव से विपरीत पर्याय का भी उत्पादन कर सकते हैं ?

इस संबंध में जिनवाणी में कथन है कि जीवद्रव्य एवं पुद्गल द्रव्य के अतिरिक्त अन्य जो चार प्रकार के द्रव्य धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्य हैं, वे तो निरन्तर सदाकाल अपने स्वभाव जैसी ही पर्यायों का उत्पादन करते रहते हैं । इन चारों में से कोई भी द्रव्य कभी किसी भी काल में स्वभाव से विपरीत पर्याय उत्पन्न करता ही नहीं । जैसे धर्मद्रव्य हर समय किसी भी जीव तथा पुद्गल को चलने में निमित्त होता है, अधर्मद्रव्य चलकर ठहरने में निमित्त होता है, आकाश द्रव्य हर एक जीव को पुद्गल का स्थान देने में निमित्त होता है, इसी प्रकार कालद्रव्य कालपरिवर्तन में निमित्त होता है । इनमें कभी किसी भी समय न तो ऐसा हुआ ही और न होगा ही कि इन चारों में से कोई भी अपना काम करना बंद कर दें, अथवा विपरीत उत्पाद करने लगे । इसलिए उपरोक्त चारों द्रव्य = वस्तुएँ तो अनादि अनंत स्वाभाविक उत्पाद ही करती रहती हैं अर्थात् अपने-अपने धर्मरूप ही परिणमन करती रहती हैं ।

बाकी रहे जीव एवं पुद्गल द्रव्य, उनमें से पहले पुद्गल द्रव्य के बाबत समझ लें । पुद्गल द्रव्य दो अवस्थाओं में ही रहता है । एक तो अणुरूप और एक स्कन्धरूप ।

अणुरूप अर्थात् अकेली हालत में रहने वाले को ही यथार्थ में पुद्गल-द्रव्य कहा गया है । वह ही मूलतः पुद्गल द्रव्य है, लेकिन वे ही अणुरूप रहने वाले अनेक पुद्गल द्रव्य, अकेले रूप न रहकर एकसाथ मिल जाते हैं, उस समय के उन मिले हुए पुद्गलों के पिण्ड को स्कन्धरूप पुद्गल कहते हैं । इन दोनों प्रकार की दशाओं में से उस पुद्गल का अणुरूप अकेला रहना वह स्वाभाविक दशा है एवं अणुदशा छोड़कर स्कन्धरूप हो जाना ही पुद्गल-द्रव्य की स्वाभाविक दशा से विपरीत दशा

है। अर्थात् पुद्गल को अणुरूप रहना ही पुद्गल का धर्म है और स्कन्ध रूप दशा ही उसकी अधर्म पर्याय है। इसके अतिरिक्त पुद्गल में रहने वाले स्पर्श रस गंध वर्ण आदि अनंत गुण कभी विपरीतरूप नहीं होते अर्थात् वे अपने-अपने स्वभाव को छोड़कर अन्य स्वभावरूप कभी नहीं होते एवं साथ ही उनमें से कोई गुण, उलटा अर्थात् विपरीत भी नहीं होता। जिसप्रकार कि जीव के गुण क्षमा के विपरीत क्रोध हो जाना आदि आदि। हर एक गुण अपने-अपने गुणों में ही कम-ज्यादा होते हुए निरन्तर उत्पाद-व्यय करते रहते हैं।

इसीप्रकार पुद्गल का स्वभाव अचेतनपना है। अतः इस पुद्गल ने अनादिकाल से कभी अपने अचेतन स्वभाव को छोड़कर चेतनरूप परिणमन नहीं किया, क्योंकि हर एक वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि वह अपने-अपने स्वभाव में ही परिणमन करती रहती हुई अनादि अनन्त कायम बनी रहती है। यह आगम, अनुमान, अनुभव सभी से पूर्णतया सिद्ध होती है।

जीव नामक वस्तु का स्वभाव

अब इस ही प्रकार जीवद्रव्य के स्वभाव के संबंध में भी समझना है। इसका समझना ही मेरे लिए मूल प्रयोजनभूत विषय है, क्योंकि मैं स्वयं ही जीवद्रव्य हूँ तथा मुझे मेरे लिए ही मेरे में धर्म करना है, अतः यथार्थतया तो मुझे मेरा ही धर्म अर्थात् स्वभाव समझना है।

आत्मा भी एक द्रव्य है। उसमें भी अनंतगुण, स्वभाव, अर्थात् धर्म हैं। लेकिन उन सबमें से ऐसे असाधारण धर्म अर्थात् स्वभाव को मुख्य बनाकर समझना चाहिये। वह स्वभाव ऐसा होना चाहिए जो अकेले जीव में ही तो मिले और अन्य किसी द्रव्य में नहीं मिले एवं उसके बिना जीव कहीं भी कभी नहीं रहे, ऐसे ही स्वभाव विशेष को जीव का लक्षण कहा जा सकता है।

ऐसा जीव का लक्षण उपयोग कहा है । जीव का पहिचानने के लिए जीव का असाधारण लक्षण “उपयोग” है । आगम में भी कहा है “उपयोगोलक्षणम्” उपयोग अर्थात् चेतन का व्यापाररूप प्रवर्तन । तात्पर्य यह है कि आत्मा का ज्ञान एक ऐसा लक्षण है कि वह ज्ञान विश्व के अनन्त द्रव्यों में से मात्र एक आत्मा के अतिरिक्त किसी भी अन्य द्रव्य में नहीं पाया जाता । वह ज्ञान निरन्तर कार्यशील ही रहता है अर्थात् निरन्तर जानने का कार्य करता ही रहता है । कहीं भी कोई भी काल ऐसा आ ही नहीं सकता जब ज्ञान का कार्य रुक जावे, ज्ञान आत्मा का स्वभाव अर्थात् गुण है, जानना उसकी पर्याय है । कभी कोई काल ऐसा आ ही नहीं सकता कि कोई भी द्रव्य-गुण अपना उत्पाद करना रोक दें, इस ही कारण आत्मा भी अपना उत्पाद कैसे रोक सकता है । अतः आत्मा के स्वाभाविक परिणमन को ही “उपयोगोलक्षणम्” के द्वारा, आचार्य महाराज ने जीव को पहचानने का उपाय बताया है ।

हमारे अनुभव में भी आता है कि आत्मा दुःख के समय दुःख को, सुख के समय सुख को, वेदना के समय वेदना को, वेदना मिट जाने पर वेदना मिट जाने को, भूख लगने पर भूख को, क्षुधा मिट जाने पर क्षुधा मिट जाने को, खट्टी को, मीठी को, चरपरी को आदि-आदि; साथ ही अपने ही अन्दर होने वाले क्रोध के समय क्रोध को, मान के समय मान को, माया के समय माया को एवं लोभ, हास्य, रति, अरति आदि-आदि, के समय-समय पर उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकार के भावों को, एवं जिस समय वे कषायें उत्पन्न हों अथवा होकर शांत हो जावें उस समय उन शांत भावों आदि अनन्त प्रकार के स्वाभाविक भावों को भी जानता ही रहता है । वर्तमान में अनेक गुणों की उत्पादरूप प्रगटता ज्ञान की पकड़ में न भी आ रही हो तो भी, ऐसे अनन्त स्वभाव, गुण, धर्म आत्मा में हैं, उनके भी अस्तित्व का ज्ञान जान लेता है । इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा का ज्ञानरूप रहना ही, आत्मा का धर्म है ।

ज्ञान के जानने के कार्य की मात्र इतनी ही नहीं, और भी महान विशेषता है कि जो घटना वर्तमान में मौजूद हो ही नहीं और पूर्व में घट चुकी हो उसको भी वर्तमान में वर्तमानवत् जान लेता है तथा जो घटना अभी वर्तमान में घटी भी नहीं है, उसको भी ज्ञान अपने ज्ञान द्वारा जान लेता है। उपरोक्त विशेषताओं के साथ-साथ ज्ञान में ऐसी असाधारण विशेषता है कि ज्ञान में जो कोई घटना ५० वर्ष पहले भी कभी घटी हो तो उसको जब भी याद करो, वह पुरानी हो जाने से कुछ धुंधली नहीं हो जाती, बल्कि वर्तमानवत् स्पष्ट ज्ञान में प्रत्यक्ष हो जाती है। ५० वर्ष पुरानी घटना होने से उसको ज्ञान में वर्तमान करने के लिए एक सेकेण्ड भी नहीं लगता। ऐसा नहीं है कि ५० वर्ष पुरानी घटना के बाद अन्य असंख्य घटनाएँ घट जाने से वह ५० वर्ष नीचे दबी हुई है, अतः उसे प्रत्यक्ष करने के लिए पीछे की घटनाओं को हटाकर पूर्व की घटना निकालने के लिए समय चाहिए।

इसके साथ ही यह भी विशेषता है कि ५० वर्ष में घटी असंख्य घटनाओं का बोझ तो आत्मा में बढ़ जाना चाहिए। जैसे ५० वर्ष में किसी ने ५०० पुस्तकें पढ़कर उनका ज्ञान प्राप्त किया हो, वह तो आत्मा में निरन्तर मौजूद है, उनका वजन आत्मा में बढ़ जाना चाहिए था, लेकिन उस संबंधी वजन आत्मा में नहीं बढ़ जाता। इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि आत्मा का ज्ञान विश्व के समस्त पदार्थों को क्रमशः अथवा एक साथ जानकर अपने ज्ञान के खजाने के स्टॉक में रखकर भी, कोई वजनी अर्थात् बोझवाला नहीं हो जाता, अत्यन्त निर्भार ही रहता है। इससे यह भी निष्कर्ष निकला कि आत्मा अमूर्तिक है क्योंकि इतना सब कुछ ज्ञान में रहते हुए भी वजन वाला नहीं होता।

इस से भी ज्यादा, ज्ञान में एक और भी महत्वपूर्ण विशेषता है कि जब आत्मा में क्रोधादि कोई भी कषाय उत्पन्न होती है तब, उस समय ही ज्ञान, उस कषाय की स्थिति, तीव्रता, मन्दता आदि सब जानते रहने पर

भी तथा उन कषायभावों में एकमेकसा हुआ दीखता हुआ भी, भिन्न रहता हुआ जानने का कार्य करता रहता है। क्योंकि कुछ काल बाद जब वह कषाय तो शांत हो जाती है, लेकिन कषाय के काल की समस्त घटना सहित क्रोधादि के मंद-तीव्र भावों की समस्त स्थिति का चित्र ज्ञान में वर्तमानवत् उपस्थित हो जाता है, किन्तु उसके साथ-साथ वह कषाय उत्पन्न नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि कषाय उत्पन्न होने के काल में भी ज्ञान और कषाय एकमेक हो गये जैसा दीखने पर भी परमार्थतः कषाय से भिन्न रहकर ही, ज्ञान जानने का कार्य कर रहा था। इन सब बातों से आत्मा के असाधारण गुण, स्वभाव, धर्म जो भी कहो, ऐसे एक ज्ञानगुण की अगाध महिमा है।

आगम में उस ज्ञान की एवं उस ज्ञान के धारक भगवान आत्मा की तो अपरंपार महिमा गाई है, क्योंकि आत्मा में तो अनन्त गुण हैं, उनमें एक ज्ञानगुण की ही जब इतनी महिमा है, तो अनन्त धर्मों की महिमा एवं उन सबका धारक ऐसा जो आत्मा उसकी कितनी महिमा होनी चाहिए—यह तो हम अनुमान से भी निर्णय कर सकते हैं। अतः आत्मा का तो मात्र जानने वाला बने रहना ही आत्मा का धर्म है।

हमारी यह चर्चा “वत्थु सहावो धम्मो” के अंतर्गत आत्मा एक वस्तु है, उसके धर्म को समझने के लिए चल रही है। मैं स्वयं एक आत्मवस्तु हूँ, अतः मुझे मेरे लिए ही धर्म करना है अतः मेरे लिए यह समझना ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है कि मेरी आत्मा कितना महत्वपूर्ण पदार्थ है।

उपरोक्त ऊहापोह के माध्यम से, आगम के आधार से, तर्क से, एवं अनुभव से भी यह निर्णय में आता है कि ज्ञान ही आत्मा का असाधारण स्वभाव है।

इस पर प्रश्न खड़ा होता है कि, इसके समझने मात्र से धर्म कैसे हो गया? धर्म से तो शांति अर्थात् निराकुलतारूपी सुख की उत्पत्ति होनी

चाहिए, वह इतने समझने मात्र से तो उत्पन्न नहीं हुई। अतः इस संबंध में विस्तृत गवेषणा भी आवश्यक है।

ज्ञानस्वभाव के निर्णय से धर्म की उत्पत्ति

उपर्युक्त गवेषणा की मर्यादा तो मात्र इतने तक ही सीमित है कि मेरे निर्णय में ऐसा दृढ़तर श्रद्धा उत्पन्न हो कि इस विश्व में छह जाति के अनन्त द्रव्य हैं उनमें ही मैं भी एक जीवद्रव्य हूँ। अन्य सभी द्रव्यों में अचेतनपना होने से वे न तो अपने आपको जानते हैं और अन्य जगत में कोई और भी है, ऐसा भी नहीं जान सकते, क्योंकि उनमें जानने की शक्ति का अभाव है। फिर भी वे सब उन-उन द्रव्यों की अपनी-अपनी क्वालिटियाँ, गुण, स्वभाव हैं, उनमें ही निरन्तर उत्पाद-व्यय करते हुए कायम बने रहते हैं। अनादि-अनन्त अपने अस्तित्व को टिकाए हुए-बनाए हुए हैं कोई आपस में एक-दूसरे के परिणमन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप, सहाय, मदद अथवा बाधक रूप नहीं होते वरन् अपना-अपना परिणमन भी करते रहते हैं। इसप्रकार से सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभावों में ही परिणमन करते हुए अनादि अनन्त विश्व की व्यवस्था बनाए हुए हैं। यह ही उन-उन वस्तुओं का निज धर्म है और उपकार है।

उपरोक्त सभी द्रव्यों से विलक्षण मैं भी असाधारण चैतन्यस्वभाव अर्थात् स्व और पर का जानने रूप अचिन्त्य सामर्थ्य स्वभाव का धारक एक द्रव्य हूँ। जगत के किसी भी द्रव्य में जानने की सामर्थ्य नहीं है, अतः मेरे अस्तित्व को नहीं जानते। लेकिन मैं जैसा ऊपर वर्णन किया-ऐसे अपने अचिन्त्य सामर्थ्य ज्ञान, सुख आदि अनन्त गुणों की महान सम्पदा सहित, जगत के सभी द्रव्यों से महान् सत् रूप से सबको जानता हुआ अनादि अनन्त विराजमान हूँ। उन सबके साथ मेरा सम्बन्ध कोई है तो मात्र इतना ही पवित्र सम्बन्ध है कि मैं जैसा वे परिणमन करते हुए विद्यमान हैं, उनको मात्र जान लूँ और जब मैं उनको जानूँ तो वे मेरे ज्ञान के ज्ञेय मात्र रहें। इसके अतिरिक्त, उनके कार्यों में कोई भी प्रकार का हस्तक्षेप, फेरफार अथवा कमी-ज्यादा करने का न मुझे ही अधिकार है, इसीप्रकार

न उनको भी कोई प्रकार का अधिकार है और न करते ही हैं और न कर ही सकते हैं। वास्तविक स्थिति तो यह है कि जगत् में अगर जाननेवाला पदार्थ नहीं हो, तो उन द्रव्योंके अस्तित्व की प्रसिद्धि कौन करता। अतः विचार कीजिए, कीमत करने लायक पदार्थ कौन हो सकता है ? अगर उनको जानने वाला उनकी प्रसिद्धि नहीं करे तो जगत् में उनका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकेगा ? अर्थातः जिन ज्ञेय पदार्थों को मेरा ज्ञान जानता है वे मेरे लिए कीमत करने योग्य हैं अथवा जो अपने आपके अस्तित्व को जानते हुए भी अन्य ज्ञेयों के अस्तित्व को भी जानता है, वह कीमत करने योग्य है, आदि-आदि। इसप्रकार उपरोक्त विचारों के माध्यम से एवं आगम के अभ्यास से तथा अपने स्वयं के अनुभव में भी उपरोक्त सत्यता प्रमाणित करके श्रद्धा में ऐसी दृढ़ता, विश्वास एवं निर्णय उत्पन्न करे कि जगत् में "मैं" ही मेरे लिए एक उत्कृष्ट महिमावान पदार्थ हूँ। मेरे ज्ञान के जानने में आते हुए जितने भी ज्ञेय हैं, वे मेरे से भिन्न रहकर, अपने आपके ही गुणपर्यायों में अनेक प्रकार के वेष बदलते हुए, परिणम रहे हैं, उनकी भी प्रसिद्धि करने वाला मेरा ज्ञान ही तो है। अतः वे कैसे भी वेष धारण करते हुए मेरे ज्ञान के सन्मुख उपस्थित हों, मेरे ज्ञान को जरा भी विचलित नहीं कर सकते। इसप्रकार की दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न होने से, जगत् के समस्त ज्ञेयों के प्रति, वे कोई भी हों, कैसे भी हों, कहीं भी हों, अत्यन्त उपेक्षा वर्तन लगती है, उनके प्रति उत्साह की निवृत्ति खड़ी होती है, कर्तृत्वबुद्धि का अभिप्राय टूटने लगता है, फलस्वरूप तत्संबंधी आकुलता खड़ी होने का अवकाश ही नहीं रहता। अतः परिणति में अत्यन्त शांति वर्तने लगती है। इस ही का नाम आत्मिक सुख है, यही सुख बढ़ते-बढ़ते पूर्ण सुखरूप परिणमित हो जाता है। यही आत्मा का परमस्वभाव रूप धर्म है। लेकिन जब यह आत्मा अपने जानने रूप स्वभाव का विश्वास भूलकर, जो ज्ञान के जानने में ज्ञेय आते हैं, उनके कार्यों का अपने-आपको कर्ता मानने लगता है, जब वे ज्ञेय इसके अनुकूल नहीं परिणमते तब स्वयं

आकुलता उत्पन्न कर लेता है और दुखी होता रहता है, क्योंकि वे अन्य द्रव्य तो स्वतंत्र हैं, इसके आधीन हैं नहीं, अतः अपनी उल्टी मान्यता से दुःखी होता रहता है ।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा तो सुखी ही है, उसका स्वभाव दुःखी रहने का है ही नहीं, अतः सुख कहीं से लाना नहीं है, प्राप्त करना नहीं है, बल्कि अपनी गलत मान्यता बदलकर अर्थात् पर का कर्ता, भोक्ता नहीं मानकर, मात्र ज्ञाता ही मानता रहे तो दुःख का उत्पन्न होना ही बंद हो जावे, आत्मा तो सुखी ही है ।

स्वचतुष्टय में परचतुष्टय की नास्ति

उपरोक्त विषय के द्वारा भी हर-एक द्रव्य की हर-एक पर्याय की स्वतंत्रता एवं स्वतंत्र कार्यक्षमता को भी समझना है । अतः स्वचतुष्टय में परचतुष्टय की भिन्नता को भी गंभीरतापूर्वक समझना चाहिए । हर एक द्रव्य यानी वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि हर-एक वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव में ही निरन्तर परिणमन करती रहती है । अपने स्वचतुष्टय को छोड़कर परद्रव्य के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में वह कभी भी किसी भी प्रकार से पहुँचती ही नहीं है, तब फिर परिणमन तो कर ही कैसे सकती है ?

स्वचतुष्टय अर्थात् हर-एक द्रव्य स्वतंत्र सत्तावान् पदार्थ अलग-अलग है । वह अपने ही प्रदेशों रूप स्वक्षेत्र में रहता है । उसका स्वयं का उत्पाद स्वयं में हर समय होता रहता है अतः स्वकाल में ही होता है, यह तो स्पष्ट ही है कि हर-एक द्रव्य का भाव तो हर-एक द्रव्यका अपना-अपना होता ही है ।

जैसे आत्मा के सबसे नजदीक और सदा साथ रहने वाले शरीर के स्वचतुष्टय, आत्मा के स्वचतुष्टय से अत्यन्त भिन्न होने से, दोनों अपने-अपने स्वचतुष्टय में निरन्तर परिणमन करते हुए ही अनुभव में आते हैं । उस शरीर में तकलीफ होने पर आत्मा अपने स्वक्षेत्र में रहते हुए ही

अपनी पर्याय में उस तकलीफ को दूर करने संबंधी भाव करता रहता है, लेकिन उन भावों आदि का शरीर की तकलीफ पर किंचित मात्र भी असर नहीं होता, क्योंकि शरीर रूपी द्रव्य, अपने स्वक्षेत्र में रहकर अपनी-अपनी पर्यायों को अपने-अपने गुणों अर्थात् क्वालिटियों में परिणमन करते रहते हैं। वे आत्मा के भावों की किंचित् मात्र भी अपेक्षा (परवाह) नहीं करते। इससे एक सिद्धान्त समझ में आता है कि हर एक द्रव्य की हर समय की पर्याय के, और दूसरे द्रव्य की हर एक पर्याय के, अपने-अपने स्वचतुष्टय ही भिन्न हैं, द्रव्य भिन्न, क्षेत्र भिन्न, काल भिन्न, भाव भिन्न होने से वे किसी में कर भी कैसे सकते हैं? तब मेरी ऐसी मान्यता, कि मैं परद्रव्य की किसी भी पर्याय में कुछ कर सकता हूँ, यह किंचित् मात्र भी संभव नहीं होने से, एकदम मिथ्या सिद्ध होती है। यह मान्यता ही एकमात्र आकुलता को उत्पन्न करने की मूलभूत कारण है। अतः जिसको सुख शांति चाहिए उसको, यह सिद्धान्त समझकर ऐसी उलटी मान्यता छोड़ देनी चाहिए।

इस ही प्रकार जीवद्रव्य के जितने भी गुण हैं उनमें, ज्ञानगुण भी स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को छोड़कर अन्य द्रव्य जो कि ज्ञेय मात्र हैं उनको जानने के लिए उन ज्ञेय द्रव्यों तक तो जा नहीं सकता, लेकिन फिर भी परचतुष्टय में स्थित उन ज्ञेय रूप परवस्तुओं को अपने स्वचतुष्टय में रहकर मात्र जान लेता है, यह एक अद्भुत सामर्थ्य है।

ज्ञानगुण की अचिंत्य महिमा की बात तो पहले की जा चुकी है। लेकिन यहाँ तो हर एक समय उत्पन्न होनेवाली एक समय मात्र की मर्यादा वाली एक पर्याय की चर्चा की जा रही है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि ज्ञानी, अज्ञानी, अल्पज्ञानी, बहुज्ञानी, सम्पूर्ण ज्ञानी कोई भी हो, सब ही अपने-आपको जाने बिना, अकेले पर को जानते ही नहीं हैं। यथा, मुझे क्रोध आया तो इसमें अपने आपको जाने बिना अकेले क्रोध का ज्ञान नहीं हुआ, तब फिर अन्य ज्ञेयों की तो बात ही क्या ? आत्मा के ज्ञान

गुण की पर्याय स्वचतुष्टय में रहकर स्वचतुष्टय में ही तो कार्य करेगी । ज्ञेय जो कि पर हैं वे अपने-अपने स्वचतुष्टय में हैं, उनका भी इस पर्याय को स्वचतुष्टय में रहते हुए ही ज्ञान होता है ।

ज्ञान पर्याय स्व-पर प्रकाशक कही जाती है, वह कैसे ?

जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है कि ज्ञान की पर्याय का स्वभाव ही ऐसा अद्भुत है कि वह जब-जब जानने का कार्य करती है, एक साथ ही स्व और पर दोनों का जानती हुई ही प्रगट होती है, न अकेले स्व को और न अकेले पर को ही जानती है । अतः यह पर्याय की स्व सामर्थ्य है कि उसको एक ही समय स्व और पर दोनों का एक ही साथ ज्ञान होता है ।

जैसे दर्पण में प्रकाशित होनेवाले अन्य पदार्थों का दिखना सहज स्वाभाविक ही होता है । वे दिखने में आये बिना नहीं रहते, क्योंकि दर्पण का स्वभाव ही ऐसा है कि वह अकेला अपने आपको दिखा ही नहीं सकता । देखनेवाला दर्पण को ही देखना चाहे तो भी पर का भी दर्शन तो वहाँ विद्यमान रहता ही है, अतः दर्पण को देखने वाले को दर्पण के साथ-साथ पर ज्ञेयों का भी दर्शन हुए बिना रह ही नहीं सकता । यह तो देखने वाले की इच्छा है कि वह दर्पण को मुख्य बनाकर दर्पण को देखे अथवा उसमें दिखने वाले अन्य पदार्थों को मुख्य करके उन पदार्थों को देखे; लेकिन दर्पण में तो दोनों का एक साथ ही प्रकाशितपना है । इसीप्रकार आत्मा के ज्ञानगुण की हर एक पर्याय में दर्पण के समान एक साथ ही स्व और पर, दोनों ज्ञेय रूप से विद्यमान हैं । लेकिन जब यह आत्मा अपने ज्ञान के द्वारा अपने आपको जानता है तब, उसमें तो स्व और पर एक साथ विद्यमान होने पर भी, यह आत्मा अपनी रुचि के अनुसार जिसको मुख्य करता है वह ही उसको जानने में आते हुए दिखने लगते हैं और अन्य का अस्तित्व ही नहीं वत् हो जाता है, दर्पण के समान ।

उपरोक्त चर्चा “वत्थु सहावो धम्मो” विषय के अन्तर्गत जीवद्रव्य का स्वभाव क्या है— इस विषय पर स्पष्टीकरण चल रहा है। अतः जीवद्रव्य का स्वभाव ज्ञान की मुख्यता से उपरोक्त प्रकार से मात्र जानने का ही है, उस जानने की प्रक्रिया भी ऊपर कहे अनुसार स्व को जानते हुए पर का ज्ञान भी हो जाने की है। ऐसे स्वभाव में आत्मा का बने रहना, वह ही जीवद्रव्य कहो या आत्मा कहो, उसका धर्म है। यही “वत्थु सहावो धम्मो” विषय के माध्यम से आत्मा का धर्म समझने का अभिप्राय है।

आत्मा के धर्म की प्रगटता

उपरोक्त विषय को इसप्रकार समझ लेने पर, आत्मा का धर्म अर्थात् आत्मा को शांति की प्राप्ति कैसे होती है—इस प्रश्न का समाधान तो नहीं होता। इस प्रश्न का समाधान तो “धर्म प्राप्त करने के मार्ग” शीर्षक के अन्तर्गत आगे विशद् रूप से स्पष्ट करेंगे। यहाँ तो मात्र इतना ही संकेत मात्र समझ लेना चाहिए कि उपरोक्त आत्मस्वभाव को समझकर एवं उसके जानने की प्रक्रिया को समझकर, ऐसा समझना है कि आत्मा तो मुख्यतया स्व को ही जानता है, जो ज्ञेयरूप से आत्मा के ज्ञान में पर पदार्थ ज्ञात हो रहे हैं, वे तो पर हैं, वे अपने - अपने स्वचतुष्टय में परिणमन कर रहे हैं, वे मेरे ज्ञान में ज्ञेय रूप से ज्ञात होते हुए भी, उनसे मेरा किंचित मात्र भी कोई प्रकार का संबंध नहीं है। वे मेरे ज्ञान में आते हुए भी मेरे लिए उपेक्षणीय हैं। ऐसी श्रद्धा विश्वास उत्पन्न हो जाने पर रुचि का वेग पर से हटकर स्व की ओर होने के कारण, आत्मा के जानने की प्रक्रिया में भी एकमात्र स्व ही होने का कोई कारण ही नहीं रहा। अतः आत्मा को निराकुल होने का अर्थात् सुखी होने का एकमात्र यह ही मार्ग होने से यह ही आत्मा का धर्म है अर्थात् शांति प्राप्त करने का मार्ग है।

इसप्रकार “वत्थु सहावो धम्मो” के माध्यम से आत्मा को धर्म प्राप्त करने का यही यथार्थ मार्ग है—ऐसा निर्णय में आता है, विश्वास में जमता है, ऐसी सम्यक् श्रद्धा उत्पन्न होती है, यही सम्यग्दर्शन रूप धर्म है।

ज्ञान का स्वभाव ही स्व के साथ पर को भी जानना है

उपरोक्त चर्चा से एक प्रश्न खड़ा होता है कि आत्मा एक ही साथ स्व और पर दोनों का ज्ञायक कैसे हो सकता है? क्योंकि ज्ञान की जानने की प्रक्रिया को समझे बिना श्रद्धान में निःशंकता कैसे आ सकती हैं उसका समाधान निम्न प्रकार है :—

गम्भीरतया विचार करने पर हम संसारी, अज्ञानी, अल्पज्ञ, छद्मस्थ जीवों को भी यह स्पष्टतया ख्याल में आ सकता है कि हमारा अल्पज्ञान भी सामान्यतया कभी भी अकेले पर को जानता हो- ऐसा नहीं है, प्रथम मुझे भी मेरा स्वयं का अस्तित्व ख्याल में आकर ही पर के अस्तित्व की प्रसिद्धि ज्ञान में आती है। जैसे जब-जब भी क्रोध की उत्पत्ति होती है तो मेरी भाषा इसप्रकार निकलती है कि “मुझे क्रोध आ रहा है”, इस पर से विचार करे कि मेरे ज्ञान की उस समय की पर्याय में जब क्रोध की जानकारी उपस्थित हुई, उसके पहले ही अपने अस्तित्व की जानकारी भी प्रस्तुत हो गई या नहीं? क्योंकि यह भाषा ही कि “मुझे क्रोध आ गया” इस बात को सिद्ध करती है कि क्रोध किसको आया, तो ज्ञान जान लेता है कि मुझको आया, अतः ज्ञान ने क्रोध के साथ-साथ उस समय ही अपने अस्तित्व का ज्ञान भी कर तो लिया। इस ही प्रकार किसी भी विषय को लेकर विचार करें तो हमको प्रतीति में स्पष्ट आवेगा कि कभी भी किसी भी प्रसंग में मेरा ज्ञान पर के ज्ञान के साथ-साथ अव्यक्तपने अपना ज्ञान भी करता ही है। ऐसा एक भी दृष्टान्त उपस्थित नहीं होगा, जिसमें मेरे को मेरे अस्तित्व का ज्ञान हुए बिना, अकेले पर का ही ज्ञान आता हो, इससे निश्चित होता है कि ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है कि जब-जब भी जानने की प्रक्रिया होती है, ज्ञान स्व और पर को एक साथ जानता हुआ ही उत्पन्न होता है, क्योंकि यह उस ज्ञानगुण का स्वभाव ही है।

इस ही बात को समयसार गाथा १७-१८ की टीका में आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेव ने भी कहा है कि अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा

आवाल-वृद्ध सबके अनुभव में सदा ही, स्वयं ही आने पर भी आदि-आदि । अतः ज्ञानी, अज्ञानी, अल्पज्ञानी, विशेषज्ञानी, सबका ज्ञान, सामान्यतया स्व-पर को जानता हुआ ही उत्पन्न होता है । अन्तर इतना ही है कि अज्ञानी ज्ञेयलुब्ध प्राणी स्व को भूलकर परज्ञेय जो ज्ञान में आते हैं उनको ही मुख्य करके, उनको ही जानने वाला अपने का मानता चला आ रहा है, तथा उनही को मुख्य करके उनमें अपनी कल्पना से, इष्टपना-अनिष्टपना मानकर इष्ट को रखने के लिए तथा जिसको अनिष्ट मानता है उसको दूर करने के लिए निरन्तर अपने आपको चेष्टित कर, उनके प्रति रागद्वेष करके अपने उपयोग में तीव्र दौड़ लगा-लगाकर स्वयं दुःखी होता रहता है, क्योंकि वे ज्ञेय तो इसके आधीन हैं नहीं जो इसकी इच्छा के अनुसार रहें या दूर हों । अतः आकुलतारूपी दुःख का वेदन ही निरन्तर करता रहता है । इसके विपरीत ज्ञानी पुरुष को स्व का अस्तित्व ही मुख्य बना रहने के कारण अज्ञानी के समान आकुलता नहीं होती । क्योंकि परद्रव्यों के परिणमन स्वतंत्र ही निरन्तर अपने-अपने कारण से होते ही रहते हैं, न तो उनका परिणमन किसी पर की अपेक्षा लेकर हो रहा है और न हो ही सकता है । उनके साथ मेरा तो मात्र परज्ञेय के रूप में उपेक्षितरूप से जान लेने के अतिरिक्त कोई प्रकार का संबंध ही नहीं है । ऐसी दृढ़ श्रद्धा, विश्वास, मान्यता जो भी कहो- निरन्तर वर्तन के कारण, उन ज्ञेयों के प्रति इष्ट-अनिष्ट मान्यता रूपी झूठी कल्पना ही उत्पन्न नहीं होती । फलस्वरूप तत्संबंधी अज्ञानी के जैसी आकुलता भी नहीं वर्तती । अतः वह अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार निराकुलतारूपी सुख को निरन्तर वेदन करता रहता है । अतः संसार दशा में भी सुखी रहता है । इसी विषय का समयसार ग्रंथ की गाथा १७-१८ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र देव ने निम्नप्रकार से समर्थन किया है :—

“परन्तु जब ऐसा अनुभूति स्वरूप भगवान आत्मा आवाल वृद्ध सबके अनुभव में सदा स्वयं ही आने पर भी अनादि बंध के वश परद्रव्यों

के साथ एकत्व के निश्चय से मूढ़ अज्ञानी जन को 'जो यह अनुभूति (ज्ञान) है वही मैं हूँ' ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता" आदि-आदि ।

अतः निर्णय में आता है कि सभी आत्माओं का स्वभाव ही जानना है और ज्ञान का स्वभाव स्व पर प्रकाशक होने के कारण, स्व को जानते हुए परको भी एकसाथ जानता ही है । अतः मेरी आत्मवस्तु का स्वभाव भी स्वपर का ज्ञायकपना ही है । यही "वत्सु सहावो धम्मो" का तात्पर्य है कि मेरे आत्मा का धर्म अर्थात् स्वभाव मात्र ज्ञायक ही है, कर्ता-भोक्ता नहीं हैं ।

उपरोक्त चर्चा हमारे मूल विषय "धर्म समझने की प्रक्रिया" के तीसरे बिन्दु "धर्म का स्वरूप क्या है" के अन्तर्गत "वत्सु सहावो धम्मो के माध्यम से" जीव नामक वस्तु अर्थात् मेरी आत्मा का स्वभाव क्या है" इस विषय पर चर्चा चली और यह समझ में आया कि अगर मेरा आत्मा अपने स्वभाव रूप ही परिणमन करता रहे, बना रहे, अर्थात् अरहंत भगवान के समान परज्ञेय रूप सारे जगत से उपेक्षित रहकर, मात्र स्वज्ञेय को मुख्य बनाकर, स्वज्ञेय का ज्ञाता बना रहे तो आकुलता अर्थात् रागद्वेष की उत्पत्ति का अवकाश ही नहीं रहता और परम निराकुल रूपी सुखामृत का स्वादी अनन्त काल तक रह सकता है ।

"वत्सु सहावो धम्मो" विषय का उपसंहार

धर्म का स्वरूप समझने के अंतर्गत "वत्सु सहावो धम्मो" के माध्यम से हमने समझा कि —

१ जगत में वस्तुएँ जाति अपेक्षा छह होने पर भी संख्या अपेक्षा अनन्त हैं, उन सबमें से मैं भी तो उन सबसे अलग अकेला जीवद्रव्य हूँ । मेरे शरीरादि भी तो मेरे जीवद्रव्य नहीं हैं ।

२ सत् वस्तु का स्वभाव है, यथा "सत् द्रव्य लक्षणम्, उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्" अर्थात् हर एक वस्तु सत्स्वभावी होने से, अपने आपके

स्वभाव से सदा शाश्वत बनी रहती है और वह सदा नित्य बनी रहने पर भी हर समय अपने आप से ही अपनी अवस्थाएँ पलटती हुई अनन्त काल तक सत्ता में बनी रहती हैं ।

३ “गुणपर्यायवद्द्रव्यं सूत्र के सिद्धान्तानुसार हर एक द्रव्य की स्वयं की अपनी-अपनी क्वालिटीयाँ, शक्तियाँ, योग्यताएँ, गुण होते हैं तथा वे द्रव्य - वस्तुएँ अपनी-अपनी गुण, क्वालिटी, शक्तियों में ही निरन्तर पलटन करते ही रहते हैं, उस पलटन को पर्याय कहते हैं । अतः वस्तु गुणपर्याय-वान् ही होती है ।

उपरोक्त सिद्धान्तों से निष्कर्ष निकलता है कि विश्व का हर एक द्रव्य अपने-अपने स्वयं के गुणों में ही निरन्तर, बिना किसी अन्य की सहायता के अपनी-अपनी पूर्व अवस्थाओं को छोड़ता हुआ नवीन-नवीन अवस्था अर्थात् पर्यायरूप से उत्पन्न होता ही रहता है । ऐसा कोई भी समय नहीं आता कि कोई भी द्रव्य किसी भी समय अपना उपरोक्त क्रम छोड़ देवे अर्थात् अपनी-अपनी पूर्व अवस्था को बदलकर नवीन-नवीन अवस्था रूप उत्पन्न होना बंद कर दे अथवा एक समय मात्र भी रुक जावे । तात्पर्य यह है कि मैं भी अनन्त द्रव्यों में ही एक जीवद्रव्य हूँ मैं स्वयं अपने अनन्त गुणों से परिपूर्ण हूँ साथ ही अपने गुणों की हर समय पूर्व अवस्था छोड़कर बिना किसी अन्य की सहायता, मदद के नवीन-नवीन अवस्थाओं को निरन्तर करता हुआ ही अनादि से अभी तक विद्यमान हूँ एवं अनन्त काल तक भी अपने-अपने गुणों की अवस्थाओं में परिवर्तन करते हुए भी विद्यमान रहूँगा । मेरे इन परिवर्तनों में अन्य द्रव्य की सहायता की कोई अपेक्षा नहीं है, क्योंकि अन्य द्रव्य भी तो अपने-अपने गुणों में ही परिणमन कर रहे हैं, वह अपना परिणमन भी तो किसी समय भी रोक नहीं सकते, अतः वह मेरे परिणमन में सहायता कर भी कैसे सकते हैं । इसप्रकार सभी द्रव्य अपने-अपने गुण पर्यायों में ही परिणमन करते हुए अनादि-अनन्त कायम बने रहते हैं । इसी सिद्धान्त का भगवान् अमृत-

चन्द्राचार्य ने समयसार गाथा ३ की टीका में समर्थन किया है। जिसको ग्रंथ के अध्ययन से जान लेना चाहिए।

उपरोक्त सिद्धांत की चार अभावों के माध्यम से आचार्यों ने दृढ़ता के साथ सम्पुष्टि की है कि (१) किसी भी एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में “अत्यन्ताभाव” है, अतः जिसका जिसमें अभाव ही हो वह उसमें कैसे क्या कर सकेगा। (२) पुद्गल द्रव्य के किसी भी स्कंध में हर एक परमाणु का दूसरे सजातीय परमाणुओं में अत्यन्ताभाव होते हुए भी एक क्षेत्रावगाह जुड़े होने से “अन्योन्याभाव” है। (३) किसी भी द्रव्य की वर्तमान पर्याय का उस ही द्रव्य की पूर्व समयवर्ती किसी भी पर्याय में अभाव है उसे “प्रागभाव” कहा गया है। (४) हर एक द्रव्य की वर्तमान पर्याय का उस ही द्रव्य की भविष्य में होने वाली पर्याय में अभाव ही रहेगा उसको “प्रध्वंसाभाव” कहा गया है।

इसप्रकार हर एक द्रव्य की हर एक समय होने वाली अवस्था पर्याय बिना किसी की सहायता के स्वतंत्रता से हर समय उत्पाद-व्यय करती ही रहती है। जब एक द्रव्य की वर्तमान पर्याय में दूसरे द्रव्य का अथवा पर्याय का अभाव ही है तब वह द्रव्य अथवा पर्याय उस अन्य द्रव्य के परिवर्तन में कैसे, क्यों और किस प्रकार मदद कर सकेगा— ऐसी शंका उपस्थित होने का अवकाश कहाँ रहता है ?

उपरोक्त स्थिति में हर एक वस्तु अपने-अपने स्वभावों, गुणों में ही निरन्तर परिणमन कर सकती है और करती ही रहती है, इसी को आचार्य महाराज ने “वत्थु सहावो धम्मो” के द्वारा कहा है कि हर एक वस्तु अपने स्वभाव रूप परिणमन करे वही हर एक वस्तु का धर्म है।

उपरोक्त सिद्धान्त के अनुसार जीव नाम आत्मा भी एक वस्तु है, अतः उसका भी धर्म उसके स्वभाव रूप परिणमन करना ही है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान है अतः आत्मा का जाननरूप परिणमन होना ही उसका धर्म है। विभावरूप अर्थात् रागादिरूप परिणमन उसका धर्म नहीं अधर्म

है, अतः “वत्यु सहावो धम्मो” के माध्यम से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा का तो मात्र जानना ही धर्म है। जिस धर्म की पूर्ण प्रगटता अरहंत भगवान में प्रगट है, वे सकल वस्तु के ज्ञाता होने पर भी किसी में भी कुछ भी करते नहीं, मात्र ज्ञायक ही हैं।

परतंत्रता द्योतक कथन एवं स्पष्टीकरण

उपरोक्त विवेचन से उठनेवाले प्रश्न निम्न हो सकते हैं :—

१. सर्वप्रथम तो यह महत्वपूर्ण शंका उपस्थित होती है कि उपरोक्त कथन के अनुसार यह सिद्ध हुआ कि “कोई भी द्रव्य अथवा उस द्रव्य की पर्याय अन्य द्रव्य या उस अन्य द्रव्य की पर्याय में कुछ कर ही नहीं सकती” लेकिन वर्तमान जगत में तो हमको प्रत्यक्ष इससे विरुद्ध ही दिखता है एवं विरुद्ध ही अनुभव में आता है। कोई भी कार्य बिना किसी दूसरे की सहायता के होता हो— ऐसा दिखता ही नहीं है। जैसे किसी ने गाली दी तो क्रोध होता है, कोई तारीफ कर देता है तो मान कषाय हो जाती है, लेकिन कोई प्रसंग उत्पन्न किए बिना तो कषाय होती ही नहीं देखी जाती, इसीप्रकार पानी शीतल होने पर भी अग्नि लगने पर गर्म होता है, आदि-आदि अनेकों ऐसे दृष्टान्त उपस्थित हो रहे हैं जिनके द्वारा ऐसा ही लगता है कि कोई भी द्रव्य का कार्य बिना दूसरे द्रव्य की सहायता के होता हो—ऐसा दिखता ही नहीं है।

२. दूसरी यह भी शंका खड़ी होती है कि उपरोक्त कथन के अनुसार “हर एक द्रव्य का धर्म अपने स्वभाव के अनुरूप ही परिणमन करना अर्थात् पर्याय उत्पन्न करना है” लेकिन जीव और पुद्गल दोनों ही अपने स्वभाव रूप परिणमन नहीं करके विपरीत भाव - विभावभाव रूप परिणमन क्यों करते हैं।

यथार्थ वस्तुस्थिति को समझने के लिए उपरोक्त शंकाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण, यथास्थान एवं आवश्यक हैं, इनके स्पष्टीकरण हुए बिना

वस्तु-स्वतंत्रता के सिद्धान्त को कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? अतः उपरोक्त शंकाओं का समाधान नीचे अनुसार समझना चाहिए ।

वस्तु का परिणामन स्वतंत्र होने पर भी परतंत्रता कैसे ?

जबकि हर एक द्रव्य के परिणामन स्वतंत्र हैं तो हर एक द्रव्यका कार्य, परद्रव्य की सहायता के बिना होता हुआ दिखाई देता, इसका कारण क्या ?

उपर्युक्त विषय समझने के पूर्व, इस विश्वास को सामने रखना आवश्यक है कि वस्तु का परिणामन कभी भी कहीं भी किसी भी हालत में परतंत्र तो हो ही नहीं सकता, इसका दृढ़तम श्रद्धा के साथ समाधान ढूँढ़ना चाहिए ।

उपर्युक्त विषय में गम्भीरता से विचारने पर अनुभव में भी आता है कि कोई गाली देवें लेकिन मैं क्रोध करूँ या नहीं करूँ अथवा कम करूँ या ज्यादा करूँ, ऐसी स्वतंत्रता है या नहीं ? इसीप्रकार किसी ने मेरी तारीफ कर दी तो मैं मान करूँ अथवा नहीं करूँ ऐसी स्वतंत्रता है या नहीं ? इसीप्रकार पैसा-धन आदि कम होने पर भी अथवा ज्यादा होने पर भी क्या सभी को लोभ के भाव एक सरीखे ही आते हैं अथवा हर एक के भावों में अन्तर दीख रहा है ? इसप्रकार अनुभव में आता है कि बाहर के कारण एक सरीखे मिलने पर भी सभी व्यक्तियों के एक सरीखे भाव तो नहीं होते । मुनिराज को तो किंचित् भी विकृति नहीं होती । अतः यह विश्वास में आता है कि हर एक व्यक्ति स्वतंत्रता पूर्वक अपने-अपने भाव करता है । लेकिन इतना स्पष्टतया दीखने पर भी हमको ऐसा क्यों लगता है कि बाहर के संयोग के कारण हमारे भाव बिगड़ जाते हैं यह मनोयोग मूल समस्या है जिसको हमको समझना है ।

स्वतंत्र होने पर भी परतंत्र दिखने का कारण क्या ?

उपर्युक्त विषय को समझने के पूर्व, वस्तु स्वातंत्र्य व्यवस्था को विश्वास में लाकर, फिर उपरोक्त छह द्रव्यों के समुदाय रूप विश्व की

व्यवस्था को समझना चाहिए । प्रश्न खड़ा होता है, कि वस्तु व्यवस्था और विश्व व्यवस्था में क्या अन्तर है ? उत्तर है कि बहुत अन्तर है ।

वस्तु व्यवस्था एवं विश्व व्यवस्था

जगत अर्थात् विश्व में छह प्रकार की वस्तुएँ हैं, उन छहों प्रकार की वस्तुओं की संख्या अपेक्षा, अनन्त वस्तुओं के समुदाय का नाम ही विश्व है । उनमें छहों द्रव्यों (वस्तुओं) के समुदाय स्वरूप विश्व की व्यवस्था क्या है, उसको समझना विश्व व्यवस्था को समझना है । इसी-प्रकार उनमें से एक एक वस्तु की व्यवस्था को समझना वह वस्तु व्यवस्था को समझना है ।

उपर्युक्त कथन को आचार्यों ने आगम एवं अध्यात्म के नाम से समझाया है । उसमें जीवद्रव्य एक वस्तु है, उसकी स्वयं एक की ही व्यवस्था को अध्यात्म कथन कहा जाता है तथा जीव के अतिरिक्त सभी द्रव्यों की व्यवस्था एवं विश्व व्यवस्था को बताने वाले कथन आगम कहे जाते हैं ।

उपर्युक्त दोनों विषयों में से जीवद्रव्य सहित सभी द्रव्यों की वस्तु व्यवस्था के संबंध में तो विस्तारपूर्वक ऊपर वर्णन आ ही चुका है और उसके माध्यम से हम समझ चुके हैं कि हर वस्तु अपने स्वभावरूप ही निरन्तर निर्बाधरूप से परिणमन करती ही रहती है । यह ही हर एक वस्तु की व्यवस्था है, क्योंकि कोई भी वस्तु अगर किसी भी वस्तु में हस्तक्षेप करने लगे तो, अन्य वस्तु भी हस्तक्षेप करके उस हस्तक्षेप करने वाली वस्तु के हस्तक्षेप को रोक भी सकती है । इसप्रकार हर एक वस्तु को हस्तक्षेप करने की सामर्थ्य स्वीकार भी की जावे तो वस्तु व्यवस्था ही समाप्त हो जावेगी । अतः वस्तु स्वातंत्र्य स्वीकार करना ही वस्तु व्यवस्था स्वीकार करना है । अब विश्व व्यवस्था को समझना है ।

विश्व व्यवस्था में पाँच अचेतन द्रव्यों की व्यवस्था

छह द्रव्य अर्थात् अनंत जीवद्रव्य, अनंत पुद्गल परमाणु, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य तथा असंख्यात कालाणु, इस-प्रकार जाति अपेक्षा छह तथा संख्या अपेक्षा अनन्तानंत वस्तुओं के समुदाय को ही लोक अर्थात् विश्व कहते हैं। इस विश्व की अनंतानंत वस्तुओं में से हर एक वस्तु हर समय अर्थात् एक सेकण्ड के भी असंख्यातवें भाग में अपनी पर्यायों को यानी अवस्थाओं को पलटती ही रहती है। कोई ऐसा समय नहीं हो सकता जब सभी वस्तुएँ अपनी-अपनी पूर्व अवस्था को छोड़कर नवीन-नवीन अवस्था धारण नहीं करती हों। तात्पर्य यह है कि काल के छोटे से छोटे काल यानी एक समय मात्र में भी विश्व में रहने वाली समस्त अर्थात् अनंतानंत वस्तुएँ एक साथ ही अपना-अपना परिणमन करती ही हैं, लेकिन फिर भी कोई भी किसी में हस्तक्षेप नहीं करती, यही विश्व की व्यवस्था है। इस ही बात का आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार गाथा ३ की टीका में निम्नप्रकार से स्पष्ट किया है :—

“इसलिए धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, जीवद्रव्य स्वरूप लोक में सर्वत्र जो कुछ जितने पदार्थ हैं वे सब निश्चय से वास्तव में एकत्व निश्चय को प्राप्त होने से ही सुन्दरता को पाते हैं, क्योंकि अन्य प्रकार से संकर, व्यतिकर आदि सभी दोष आ जायेंगे। वे सब पदार्थ अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहने वाले अनन्त धर्मों के चक्र को-समूह को चुम्बन करते हैं-स्पर्श करते हैं तथापि वे परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते, अत्यन्त निकट एक क्षेत्रावगाह रूप से तिष्ठ रहे हैं, तथापि वे सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते, पररूप परिणमन न करने से अपनी अनन्त व्यक्ति प्रगटता नष्ट नहीं होती, इसलिए जो टंकोत्कीर्ण की भाँति शाश्वत स्थिर रहते हैं और समस्त विरुद्ध कार्य तथा अविरुद्ध कार्य दोनों की हेतुता से निमित्त भाव से वे सदा विश्व का उपकार करते हैं-टिकाये रखते हैं।”

उपरोक्त प्रकार से आचार्य महाराज ने विश्व की व्यवस्था के स्वरूप को स्पष्ट किया है। उक्त आधार से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि इस विश्व की हर एक वस्तु यानी द्रव्य, हर समय स्वतंत्रतया अपने-अपने गुणों में परिणमन करते ही रहते हैं-पर के गुणपर्यायों में परिणमन करना अशक्य होने से कोई द्रव्य मर में कुछ करता ही नहीं है।

सभी द्रव्य जो संख्या में अनंतानंत हैं-जैसे जीवद्रव्य अनंत, पुद्गल अनंतानंत, धर्म, अधर्म, आकाश एक-एक असंख्यात कालाणु, सभी में से हर एक द्रव्य हर समय अपनी-अपनी पर्यायों में परिणमन करता ही रहता है वह दूसरे द्रव्य के कैसे परिणमन हो रहे हैं इसकी अपेक्षा भी नहीं करता। लेकिन सभी के परिणमन एक साथ होने से, उनके परिणमन, किसी अन्य द्रव्य के कोई परिणमन, बिना किसी प्रयास के दूसरे द्रव्य के परिणमन के अनुकूल दिखने लगता है, जबकि उसी द्रव्य का वह परिणमन किसी को प्रतिकूल दिखने लगता है, जबकि उस अनुकूल-प्रतिकूल दिखने वाले परिणमन को पता भी नहीं है कि मेरा परिणमन किसी को अनुकूल लग रहा है अथवा प्रतिकूल लग रहा है। इसप्रकार समस्त द्रव्यों के परिणमन अर्थात् पर्यायें किसी के लिए अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता उत्पन्न किए बिना ही अपने-अपने क्रमानुसार अनादि-अनंत काल तक निर्वाध गति से परिणमन करती ही रहती हैं। यही आगमसम्मत विश्व की व्यवस्था है।

इसके विपरीत अगर कोई भी द्रव्य के परिणमन को दूसरे द्रव्य के परिणमन के अनुकूल बनने के अथवा प्रतिकूल बनने के अधिकार को स्वीकार कर लिया जावे तो, अनंत द्रव्यों के आपस में टकराव की स्थिति उत्पन्न हो जाने से विश्वव्यवस्था ही नहीं रह सकेगी। अतः यह ध्रुव सत्य है कि सभी द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायों को ही करते रहते हैं, किसी दूसरे द्रव्य में अथवा उसकी पर्याय में किसी भी प्रकार का, किसी भी समय, कैसा भी हस्तक्षेप कर ही नहीं सकते। यही आगम सम्मत विश्व की व्यवस्था है।

अन्य दृष्टि से भी इस विषय पर गम्भीरता से विचार किया जावे तो ज्ञान में स्पष्ट होगा कि उपरोक्त छह द्रव्यों में पाँच द्रव्य तो अचेतन हैं, उनमें ज्ञान का अंश भी नहीं है, अतः वे यह जानते ही नहीं है कि दूसरे का क्या हो रहा है, ऐसी स्थिति में वे कैसे किसी के अनुकूल या प्रतिकूल बन सकते हैं ? जैसे धर्मद्रव्य एवं अधर्मद्रव्य दोनों के कार्य परस्पर विपरीत हैं, धर्मद्रव्य तो गतिमान जीव-पुद्गल को निमित्त कहा जाता है, अधर्मद्रव्य गतिपूर्वक ठहरने वाले द्रव्यों के लिए निमित्त कहा जाता है और दोनों ही द्रव्य हर समय परिणमन तो कर ही रहे हैं तब कौन से द्रव्य ने किसी भी समय दूसरे द्रव्य के लिए क्या किया ? निष्कर्ष यह निकलता है कि जीव तथा पुद्गलों में से जो भी गतिमान होगा उसको धर्मद्रव्य अनुकूल पड़ने से उस परिणमन में निमित्त कह दिया जाता है तथा उसी समय अन्य सभी द्रव्य अभावात्मक निमित्त हैं। उसी समय गतिपूर्वक स्थित होते हुए द्रव्यों को अधर्मद्रव्य अनुकूल निमित्त कहा जाता है तथा उसी समय बाकी के सभी द्रव्य अभावात्मक निमित्त कहे जाते हैं। उसी समय अन्य भी तो सारे के सारे द्रव्य एकसाथ परिणमन कर ही रहे हैं, तब यह अनुकूलता-प्रतिकूलता का भेद कौन करेगा ? विचारने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल- ये पाँचों द्रव्य तो अचेतन होने से अनुकूलता-प्रतिकूलता करने में असमर्थ ही हैं वे द्रव्य अनुकूल-प्रतिकूल रूप दूसरे के लिए कैसे बन सकेंगे जबकि वे जानते ही नहीं कि दूसरे किसी का अस्तित्व भी जगत में है अथवा नहीं। निष्कर्ष यही निकलता है कि कोई किसी के परिणमन में साधक-बाधक नहीं होता है, यही विश्व की सुन्दर व्यवस्था है।

विश्व व्यवस्था में जीवद्रव्य की स्थिति

प्रश्न :— यहाँ कोई कह सकता है कि उपर्युक्त कथन में पाँचों अचेतन द्रव्यों की स्थिति बताई, लेकिन विश्व व्यवस्था में जीवद्रव्य की

क्या स्थिति है ? जबकि जीव ही मूलतः प्रयोजनभूत पदार्थ है अतः उसके बाबत समझना अत्यन्त आवश्यक है ।

उत्तर :— जब सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभावरूप ही परिणामन कर रहे हैं तो जीवद्रव्य भी तो स्वयं एक वस्तु है । अतः वस्तु व्यवस्था के अनुसार वह भी अपनी-अपनी पर्यायों के अतिरिक्त क्या, क्यों और कैसे कुछ भी कर सकता है ? अतः जीव भी निरन्तर अपनी पर्यायों को ही निर्बाधरूप से करता रहता है । जीव का स्वभाव ही जानना है इसलिए इस आत्मा की जाननक्रिया कभी रुकती नहीं चाहे निगोद में चला जावे अथवा स्वर्ग में उत्पन्न हो, अथवा मनुष्य, तिर्यच, सिद्ध भी हो जावे तो भी जाननक्रिया का कहीं भी अभाव हो सकता नहीं तथा होता हुआ दिखता भी नहीं ।

जो भी क्रिया अनादि-अनंत जीव से भिन्न न हो सके वह तो जीव की स्वाभाविक क्रिया है और जो उत्पन्न होकर विनष्ट हो जावे उसे जीव की स्वाभाविक क्रिया कैसे कही जा सकती है ? अर्थात् नहीं कही जा सकती । इससे सिद्ध होता है कि अन्य द्रव्यों की तरह जीव भी निरन्तर अपनी स्वाभाविक क्रिया ही कर सकता है तथा करता रहता है । उस जाननक्रिया रूप स्वाभाविक क्रिया का एक क्षणमात्र भी आत्मा यानी जीव से कभी वियोग नहीं होता, क्योंकि वस्तु की व्यवस्था ही ऐसी है कि जो उसका स्वभाव है उस रूप निरन्तर परिणामन करती ही रहे । आचार्य उमास्वामी महाराज ने कहा भी है— “उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्” एवं “सत् द्रव्य लक्षणम्” आदि-आदि, अतः जीवद्रव्य निरन्तर जाननक्रिया करता ही रहता है और अपनी स्वाभाविक क्रिया के द्वारा जिन-जिन वस्तुओं को जानता है वे उस ज्ञान के ज्ञेय अथवा ज्ञान के निमित्त कहे जाते हैं । परवस्तुओं के साथ आत्मा का अगर कोई संबंध कहा जावे तो परम पवित्र एकमात्र ज्ञेय-ज्ञायक संबंध ही है । अन्य कोई प्रकार का किंचित्मात्र भी संबंध नहीं है । यही सारे विश्व की व्यवस्था है । विश्व के सभी द्रव्य

अपनी-अपनी स्वाभाविक पर्यायों में ही निरन्तर परिणमन करते रहते हैं; किसी अन्य के परिणमन में हस्तक्षेप नहीं करते हैं।

उपरोक्त द्रव्यों में आपसी संबंध क्या और कैसे

प्रश्न :- ऊपर यह सिद्ध किया गया कि जीवद्रव्य का अन्य वस्तुओं के साथ मात्र ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है, अन्य कुछ नहीं; लेकिन जिनवाणी में हर एक वस्तु का अन्य वस्तुओं के साथ-निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी तो कहा है ? तथा ऊपर भी कहा गया है कि “गतिमान जीव पुद्गल को धर्मद्रव्य तथा गतिपूर्वक स्थिरता को प्राप्त अधर्मद्रव्य निमित्त कहा गया है। इसीप्रकार जीव को भी जाननक्रिया में जो ज्ञेय पड़ते हैं, वे आत्मा की जानन-क्रिया में निमित्त हैं। अतः निमित्त-नैमित्तिक संबंध समझना अत्यन्त आवश्यक एवं प्रयोजनभूत ज्ञात होता है।

समाधान :- सर्वप्रथम तो वस्तु व्यवस्था क्या है एवं विश्व व्यवस्था क्या है, यह सिद्धान्त, पठन, चिन्तन, मनन सत्समागत आदि के द्वारा स्पष्ट रूप से अपने ज्ञान और श्रद्धान अर्थात् विश्वास में बैठ जाना चाहिए। निःशंकता पूर्वक समझे बिना जीव अपने प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर सकता।

जिस जीव को निःशंक श्रद्धा हो गई कि विश्व की हर एक वस्तुएँ अपनी-अपनी पर्याय में ही परिणमन कर सकती हैं, अन्य की पर्याय में कुछ कर ही नहीं सकती, क्योंकि हर एक द्रव्य का परिणमन तो अपने-अपने ही क्षेत्र अर्थात् प्रदेशों में होता है, अन्य के प्रदेशों में पहुँचेगा ही नहीं तथा स्पर्श भी नहीं करेगा तो कैसे उस द्रव्य की पर्याय में कुछ फेरफार कर सकेगा ? मान लो जिस समय पर की पर्याय में फेरफार करने जावे, उस समय वह द्रव्य अपनी पर्याय का उत्पाद नहीं करता होगा अथवा एक ही समय में, दो पर्यायें उत्पन्न करने लगेगा ? इस पर भी कोई कहे कि एकसमय दो पर्याय मान भी ली जाए तो क्या हानि है, लेकिन इसका तो

जिनवाणी में स्पष्ट निषेध है। आचार्य अमृतचंद्र ने समयसार कलश नं. ५१ से ५४ तक इस बात का स्पष्टीकरण निम्नप्रकार से किया है :—

५१. जो परिणमित होता है वह कर्ता है, जो परिणाम होता है वह कर्म है और जो परिणति है सो क्रिया है, यह तीनों वस्तुरूप से अभिन्न हैं।

५२. वस्तु एक ही सदा परिणमित होती है, एक के ही सदा परिणाम होते हैं अर्थात् एक अवस्था से अन्य अवस्था एक की ही होती है और एक की ही परिणति क्रिया होती है, क्योंकि अनेक रूप होने पर भी वस्तु एक ही है, भेद नहीं है।

५३. दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते, दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता और दो द्रव्यों की एक परिणति क्रिया नहीं होती, क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं सो सदा अनेक ही हैं वे बदल कर एक नहीं हो जाते।

५४. एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते, और एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते तथा एक द्रव्य की दो क्रियाएँ नहीं होती, क्योंकि एक द्रव्य अनेक रूप नहीं होता।

जिनागम के उपरोक्त कथन से भी यह स्पष्ट है कि हर एक द्रव्य अपने-आप में ही रहकर मात्र अपनी स्वयं की पर्याय को ही कर सकता है, अन्य किसी द्रव्य में कुछ भी किञ्चित्मात्र भी नहीं कर सकता।

उपरोक्त सिद्धान्त जिसकी समझ में आकर श्रद्धा में निःशंकता उत्पन्न हो जावे कि कोई भी द्रव्य किसी भी अन्य द्रव्य में कुछ भी फेरफार करने की सामर्थ्य नहीं रखता, मैं भी तो एक जीवद्रव्य हूँ, द्रव्यमात्र की जो सामर्थ्य है, मात्र वह ही सामर्थ्य तो मेरी हो सकती है, विशेष प्रकार अथवा अन्य प्रकार कैसे और क्यों हो सकती है आदि-आदि। इसका प्रमाण साक्षात् अरिहंत भगवान की आत्मा है। भगवान आत्मा को जानने

रूप स्वभाव है उस रूप तो अरिहंत भगवान् परिणमते ही रहते हैं, जिस रूप में वे नहीं परिणमते वह आत्मा का स्वभाव ही नहीं है। इसीलिए अन्य प्रकार से नहीं परिणमते, उनमें तो अनन्त शक्ति प्रगट हो चुकी है, अतः अन्य द्रव्य में फेरफार करने की सामर्थ्य अगर किसी द्रव्य में स्वीकार की जावे तो अरिहंत भगवान् को जो अनन्त शक्तिवान् हैं, उन्हें तो सब कुछ फेरफार कर देना चाहिए था। अगर यह स्वीकार किया जावे तो हमको भी ईश्वर का कर्तृत्ववाद ही स्वीकार करना पड़ जावेगा, जो कि जैन धर्म की मान्यता के अत्यन्त विपरीत है। अतः सब प्रकार से निष्कर्ष यही निकलता है कि जैसी ऊपर कही गई है, वही वस्तु व्यवस्था एवं विश्व व्यवस्था है, उसको निःशंक होकर, स्वीकार कर दृढ़ निश्चय के साथ श्रद्धा में बैठना चाहिए।

निमित्त-नैमित्तिक संबंध

प्रश्न होता है कि निमित्त-नैमित्तिक संबंध क्या है ?

उत्तर :— विश्व में मात्र एक ही द्रव्य तो नहीं है, द्रव्य तो जाति अपेक्षा छह तरह के तथा संख्या अपेक्षा अनन्त-अनन्त हैं, वे सबके सब ही अपनी-अपनी पर्यायों रूप ही परिणमते हैं। हमारे ज्ञान में भी स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि जीव ही अकेला तो द्रव्य नहीं है। उसके ज्ञान में अन्य द्रव्यों का अस्तित्व भी तो ज्ञात होता है। अतः जब जीव के अतिरिक्त भी अन्य द्रव्यों का अस्तित्व है तो जीव के परिणमन के समय, अन्य दूसरे द्रव्यों के भी परिणमन होंगे ही, अतः उन सबके साथ सबका कुछ न कुछ किसी भी प्रकार संबंध तो होना ही चाहिए। जीव के ज्ञान में अन्य ज्ञेयों का अस्तित्व भी तो ज्ञात होता है, अतः आत्मा जाननेवाला और वे पदार्थ ज्ञान के ज्ञेय-इतना संबंध तो सिद्ध होता ही है। अतः वे ज्ञेय, ज्ञान के निमित्त कहे जाते हैं। ऐसा संबंध नैमित्तिक संबंध हैं। इस ही बात को आचार्य अमृतचंद्र ने समयसार गाथा-३ की टीका में निम्नप्रकार से स्पष्ट किया है :—

तथापि वे परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते, अत्यन्त निकट एक क्षेत्रावगाहरूप से तिष्ठ रहे हैं तथापि वे सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते, पररूप परिणमन न करने से अपनी अनन्त व्यक्तित्ता प्रगटता नष्ट नहीं होती, इसलिये जो टंकोत्कीर्ण की भाँति शाश्वत स्थित रहते हैं और समस्त-विरुद्ध कार्य तथा अविरुद्ध कार्य दोनों ही हेतुता से निमित्त भाव से वे सदा विश्व का उपकार करते हैं-टिकाये रखते हैं।”

उपरोक्त आगम प्रमाण से हर एक द्रव्य का आपस में क्या संबंध है, इस बात को बहुत दृढ़तापूर्वक स्पष्ट रूप से सिद्ध किया है। अर्थात् हर एक द्रव्य अपनी स्वतंत्र वस्तुव्यवस्था को अपने-आप में बनाये रखते हुए भी अन्य द्रव्य के साथ मात्र निमित्त-नैमित्तिक संबंध रखता ही है। ऐसी ही विश्व की व्यवस्था है।

निमित्त-नैमित्तिक संबंध माना ही न जावे तो ?

विश्व की जैसी व्यवस्था है उसको वैसा ही स्वीकार नहीं करे तो उसका ज्ञान ही सच्चा नहीं रहेगा। उसके स्वीकार नहीं करने से विश्व व्यवस्था तो नहीं बदल जावेगी, उसका ज्ञान ही झूठा होगा।

जो स्थिति आगम सम्मत है उसको स्वीकार नहीं करने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। आगम से सिद्ध है कि जब-जब जीव पुद्गल गति परिणति को प्राप्त होते हैं तो धर्मद्रव्य निमित्त कहलाता है। इसीप्रकार जब-जब जीव एवं पुद्गल, गतिपूर्वक स्थिरता को प्राप्त होते हैं तब अधर्मद्रव्य निमित्त कहा जाता है तथा सभी द्रव्यों को अवकाश देने में निमित्त आकाश द्रव्य है, उसीप्रकार कालद्रव्य भी परिणमन में सभी द्रव्यों के निमित्त हैं तथा आत्मा को स्वलक्ष्य के अभाव में मात्र परलक्षी ज्ञान होने पर, पुद्गल एवं उसके स्कंध कर्म नोकर्म आदि क्रोधादि कषायों की उत्पत्ति में निमित्त कहे जाते हैं। इसीप्रकार अजीव द्रव्य भी एक प्रदेशी परमाणु से पलटकर स्कंधरूप होता है तथा स्कंध से परमाणुरूप होता है उसमें जीवद्रव्य निमित्त कहा जाता है। ऐसी ही सारे विश्व की आगम

सम्मत व्यवस्था है। अगर उपरोक्त व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया जावे तो छह द्रव्य ही सिद्ध नहीं होंगे और विश्व का अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा। जो कि प्रत्यक्ष में भी बाधित है, एवं आगम के भी विपरीत है। अतः उपरोक्त सत्य को स्वीकार करना ही ज्ञान की सत्यता है।

हमारे अनुभव में भी आता है कि जब भी किसी अन्य व्यक्ति को मेरे प्रति द्वेष का भाव हुआ उस समय उस जीव ने तो क्रोधभाव का उत्पाद किया, उसी समय उस ही व्यक्ति की भाषा रूपी पुद्गल वर्गणाएँ गाली के रूप में उत्पाद हुई, उसी समय उस भाषारूपी वर्गणाओं का मेरी कर्ण इन्द्रिय के साथ सम्पर्क हुआ, उसी समय मेरी ज्ञान की उस समय की पर्याय ने उन सबको जाना और उसी समय मेरी मान्यता में अर्थात् श्रद्धागुण ने उन वाणी रूपी पुद्गलों में मान्यता की कि ये गाली मुझे दी गई ऐसा मान लिया, फलस्वरूप चारित्र गुण ही विकृत होकर क्रोध कषाय का उत्पाद हो गया। उपरोक्त सभी कार्य, एक ही साथ हुए हैं, इन सभी कार्यों का समय एक ही है।

इस प्रसंग में गंभीरता से विचार करने पर स्पष्ट होगा कि कार्य तो मात्र एक ही हुआ। जैसे क्रोध करने वाले व्यक्ति ने क्रोध का उत्पाद किया वह तो उस जीव की पर्याय है। उसी समय वाणीरूपी पुद्गल वर्गणाओं का गालीरूप उत्पाद है, उसी समय मेरे कर्ण से संबंधित पुद्गलों का वाणी रूपी परमाणुओं से संपर्क होने का उत्पाद हुआ। उसी समय मेरे ज्ञानगुण का तदाकार होना मेरा उत्पाद है। उसी समय मेरे श्रद्धागुण का विपरीत परिणमन भी मेरा उत्पाद है तथा चारित्र की विपरीतता रूप क्रोध का उत्पाद भी मेरा ही उत्पाद हुआ।

इस पर विचार करिये कि समय एक और कार्य अनेक तथा उनके स्वामी भी अलग-अलग व अनेक, फिर भी आपस में किसी न किसी प्रकार से संबंध भी बनता है, यह प्रत्यक्ष अनुभव में आता ही है, अतः इस सत्य का अस्वीकार करना विश्व व्यवस्था को अस्वीकार करना है। ऐसे

ही संबंध को निमित्त-नैमित्तिक संबंध कहा जाता है और यही आगम सम्मत विश्व व्यवस्था है। छह द्रव्यों का समुदाय वही विश्व है, उस विश्व में हर एक द्रव्य हर समय, अपने आप को कायम रखते हुए अनवरतरूप से अपनी-अपनी पर्यायों में उत्पाद व्यय करता ही रहता है। कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के उत्पादव्यय में न साधक ही होता है न बाधक ही। लेकिन फिर भी हर समय हर एक समय के कार्य में एक-दूसरे की पर्याय का आपस में निमित्त-नैमित्तिक संबंध बनता ही रहता है। ऐसी स्वाभाविक विश्व व्यवस्था है। यह व्यवस्था किसी के रोकने से रुक नहीं सकती, बदल नहीं सकती, घट नहीं सकती एवं बढ़ भी नहीं सकती, लेकिन अनवरत रूप से चलती ही रहती है। इस विषय में गंभीरता से चिंतन-मनन करें तो हमारे विश्वास में भी उक्त विषय की सत्यता प्रमाणित होगी। क्योंकि हमारे दैनिक जीवन में हर समय ऐसे प्रसंग अनवरत रूप से बनते हुए अनुभव में आते हैं। अतः छह द्रव्यों की पर्यायों का हर समय आपस में निमित्त-नैमित्तिक संबंध बनता ही रहता है, इस सत्य को स्वीकार करना ही योग्य है।

निमित्त-नैमित्तिक संबंध एवं कर्ताकर्म संबंध का अन्तर

हर एक द्रव्य का अपनी पर्यायों के साथ संबंध वह वास्तविक कर्ताकर्म संबंध है। तथा एक द्रव्य के साथ दूसरे द्रव्य का संबंध वह निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। वास्तविक कर्ता-कर्म संबंध तो व्याप्य-व्यापक में ही होता है, यथा पर्याय द्रव्य में व्याप्त होती है, द्रव्य-पर्याय में व्यापक होता है, अतः इनका संबंध कर्ता-कर्म संबंध है। लेकिन जिनका आपस में व्याप्य-व्यापक न हो उनके संबंध को निमित्त-नैमित्तिक संबंध कहा जाता है, जैसे कि जीव के साथ पुद्गल, धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों के संबंध को निमित्त-नैमित्तिक संबंध कहा गया है।

इस बात को आचार्य अमृतचंद्रदेव ने समयसार, गाथा ८० से ८२ की टीका में एवं कलश ४९ एवं ५१ में निम्नप्रकार कहा है कि :—

टीका :- “जीव परिणाम को निमित्त करके पुद्गल कर्म रूप परिणमित होते हैं और पुद्गल कर्म को निमित्त करके जीव भी परिणमित होते हैं। इसप्रकार जीव के परिणाम के और पुद्गल के परिणाम के परस्पर हेतुत्व का उल्लेख होने पर भी जीव और पुद्गल के परिणाम के परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव होने से जीव का पुद्गल परिणामों के साथ और पुद्गल कर्म को जीव परिणामों के साथ कर्ता-कर्मपने की असिद्धि होने से मात्र निमित्त-नैमित्तिक भाव का निषेध न होने से, परस्पर निमित्त मात्र होने से ही दोनों के परिणाम होता है। इसलिए जैसे मिट्टी द्वारा घड़ा किया जाता है अर्थात् जैसे मिट्टी ही घड़ा बनाती है उसीप्रकार अपने भाव से अपना भाव किया जाता है। इसलिए जीव अपने भाव का कर्ता कदाचित् होता है, परन्तु जैसे मिट्टी से कपड़ा नहीं किया जा सकता उसी प्रकार अपने भाव से परभाव का किया जाना अशक्य है। इसलिए जीव पुद्गल भावों का कर्ता तो कदापि नहीं हो सकता यह निश्चय है।” ॥ ८०-८२ ॥

“व्याप्य-व्यापकता तत्स्वरूप में ही होती है, अतत्स्वरूप में नहीं ही होती, और व्याप्य-व्यापकभाव के संभव के बिना कर्ता-कर्म की स्थिति कैसी ? अर्थात् कर्ताकर्म की स्थिति नहीं ही होती।” ॥ ४९ ॥

“जो परिणमित होता है सो कर्ता है, परिणमित होने वाले का जो परिणाम है सो कर्म है और जो परिणमित है सो क्रिया है, ये तीनों वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं।” ॥ ५१ ॥

उपरोक्त आगम वाक्यों से कर्ता-कर्म संबंध एवं निमित्त-नैमित्तिक संबंध की व्याख्या, लक्षण एवं स्वरूप स्पष्ट हो जाते हैं।

निमित्त-नैमित्तिक संबंध में पराधीनता का निराकरण

उपरोक्त “निमित्त-नैमित्तिक संबंध नहीं माना जावे” तो प्रकरण के अन्तर्गत जो उदाहरण दिये गये हैं उनसे तो ऐसा लगता है कि निमित्त के अनुसार ही कार्य होता है। जैसे गाली देने का भाव हुआ तो गाली के

शब्द निकले । गाली के शब्द निकले तो हमारे कानों में पड़े, उनसे आत्मा को गाली के शब्दों का ज्ञान हुआ, उससे क्रोध उत्पन्न हुआ, आदि-आदि । अगर गाली देनेवाला व्यक्ति क्रोध नहीं करता तो यह सब क्यों होता ? इसप्रकार अनेक प्रसंगों में ऐसा ही दिखता है ।

उपरोक्त शंका का निराकरण वीतरागता उत्पादक सिद्धान्त को मुख्य रखकर, गंभीर चिन्तन-मनन से ही हृदय में उतर सकता है । यह तो पहले अनेक बार कहा गया है । ऊपर कही गई वस्तु व्यवस्था एवं विश्व व्यवस्था को सत्समागम तर्क, आगम, अनुमान, एवं अनुभव के साथ-साथ तीव्रतम रुचि के द्वारा, पक्का निर्णय कर, श्रद्धा में बैठाकर, हर एक द्रव्य की स्वतंत्रता का विश्वास नहीं जमे, तब तक उपरोक्त शंका का समाधान होना कठिन है ।

क्योंकि विश्व में हर समय हर एक द्रव्य परिणमन तो कर ही रहा है, वही उसका कार्य अर्थात् धर्म है और वह द्रव्य उस कार्य का कर्ता है । इसमें कभी व्यवधान तो पड़ नहीं सकता । ऐसी ही विश्व की व्यवस्था है । उस एक ही समय में अनन्त द्रव्यों के परिणमन, किसी अन्य द्रव्य के किसी परिणमन के अनुकूल भी पड़ सकते हैं, किसी के प्रतिकूल भी पड़ सकते हैं; जब कि उस द्रव्य ने तो कोई कार्य इसलिए किया ही नहीं है कि वह किसी को अनुकूलता का कारण हो अथवा प्रतिकूलता का कारण हो, लेकिन कार्य अर्थात् पर्याय तो सभी द्रव्य अपना-अपना करेंगे ही करेंगे । ऐसी स्थिति में यह कैसे संभव है कि अनंतानंत द्रव्यों में वह कार्य किसी के अनुकूल अथवा प्रतिकूल न पड़े ? अतः यही विश्व की व्यवस्था है कि कोई द्रव्य किसी भी द्रव्य के कार्य में बाधा नहीं डालता हुआ भी अपना कार्य करता ही रहता है, चाहे वह कार्य किसी को अनुकूल लगे अथवा नहीं ।

इस बात को आचार्य पूज्यपादस्वामी ने इष्टोपदेश ग्रन्थ की, गाथा ३५ में निम्नप्रकार से स्पष्ट किया है :—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति ।

निमित्तमात्र मन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥

अर्थ :— अज्ञ अज्ञानी को न तो कोई ज्ञानी बना सकता है और न ज्ञानी को अज्ञानी बना सकता है । मात्र एक-दूसरे के लिए निमित्त हैं, जैसे गमन करने में धर्मास्तिकाय है ।

इसके द्वारा भी यही सिद्ध होता है कि निमित्त का कार्य किसी को पराधीन बनाता नहीं है, वरन् अपनी और पर की स्वाधीनता को अक्षुण्ण बनाए रखते हुए भी जो अनुकूलता का संबंध बनता है वही निमित्त-नैमित्तिक संबंध कहा जाता है ।

इस ही विषय को विशेष स्पष्टता के लिये अन्य प्रकार से विचार करें । हम जिसको निमित्त कहते हैं वह तो एक अन्य द्रव्य की पर्याय है तथा जिसको हम नैमित्तिक कहते हैं वह एक-दूसरे द्रव्य की पर्याय है । दोनों द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं, दोनों पर्यायों के स्वामी भी अन्य-अन्य हैं, वे सब अपनी-अपनी पर्यायों के कर्ता हैं, वे पर्यायें उनकी कर्म हैं । ऐसी स्थिति में विचार कीजिये कि निमित्त वाले द्रव्य की पर्याय का उत्पाद काल एवं नैमित्तिक वाले द्रव्य की पर्याय का उत्पाद काल, एक ही समय है अथवा भिन्न-भिन्न समय का है ? अगर भिन्न-भिन्न समय मानेंगे तो यह मानना होगा कि जब निमित्त होगा तब नैमित्तिक नहीं होगा और जब नैमित्तिक होगा तब निमित्त नहीं रहेगा । ऐसी स्थिति में वह निमित्त किसका ? और वह नैमित्तिक किस निमित्त की अपेक्षा ? अर्थात् ऐसी स्थिति में न निमित्त ही सिद्ध होगा और न नैमित्तिक ही । अतः दोनों का उत्पाद एक ही समय में एक ही साथ अलग-अलग द्रव्यों में मानना ही पड़ेगा । जब यह माना जाता है कि दोनों का उत्पाद, एकसाथ एक ही समय अलग-अलग द्रव्यों में हुआ है तो वह निमित्त कहलाने वाले द्रव्य की पर्याय, किसी अन्य द्रव्य की पर्याय का अपने अनुकूल करने का कार्य प्रयास कब और कैसे करेगी ? जब निमित्त वाली पर्याय का उत्पाद हुआ,

उसी समय नैमित्तिक कहलाने वाली पर्याय का भी उत्पाद हो गया, दोनों ने अपना-अपना कार्य एक ही समय में सम्पन्न कर लिया, तब निमित्त को किसी की अनुकूलता प्रतिकूलता रूप होने का अवकाश ही कहाँ रह जाता है। इस पर भी कुतर्क के रूप में कहा जाए कि भले एक समय ही उत्पाद हो लेकिन अनुकूलता-प्रतिकूलता के लिये ही उत्पाद किया, ऐसा कहा जावे तो, यह बात भी सत्यता की कसौटी पर सही नहीं उतर सकती। कारण छह द्रव्यों में पाँच द्रव्य तो अचेतन जड़ हैं, वे तो किसी के अनुकूल रूप परिणमन करने का अथवा प्रतिकूल परिणमन करने का विचार कर ही नहीं सकते। वे तो न अपना ही अस्तित्व जानते हैं न पर का ही अस्तित्व जानते हैं; तब वे किसी के अनुकूल पड़ने अथवा प्रतिकूल पड़ने की दिशा में, क्या, कब, और कैसे अपना परिणमन करेंगे ? अतः उनमें से कोई भी द्रव्य किसी के अनुकूल प्रतिकूल पड़ने के लिए परिणमन नहीं करता वरन् अपनी-अपनी पर्याय अपने-अपने क्रमानुसार परिणमन करते रहते हैं, वे परिणमन सहज ही किसी को अनुकूल निमित्त, (सद्भावरूप निमित्त) किसी को प्रतिकूल निमित्त (अभावरूप निमित्त) कहलाने लगता है। यथार्थ स्थिति यह है कि उस द्रव्य ने तो किसी के लिए कुछ किया ही नहीं था।

निमित्त आने पर ही उपादान कार्यरूप

परिणमता हुआ दिखता है।

देवागम स्तोत्र की कारिका ५८ की अष्टसहस्री टीका में आचार्य श्री ने उपादान के दो भेद सिद्ध किये हैं। एक तो त्रिकाली उपादान और एक क्षणिक उपादान। लेकिन दोनों का अस्तित्व एक साथ ही हर समय रहता है। त्रिकाली उपादानगत योग्यतावाला द्रव्य ही उस कार्यरूप परिणमन कर सकेगा। जैसे चेतन में ही जाननपने रूपी पर्याय हो सकती है, अचेतन में नहीं। लेकिन वह चेतन जब जानने रूप कार्य करेगा, उस समय वह क्षणिक उपादानगत योग्यता के अनुसार ही करेगा। पाँच

समवायों में स्वभाव नाम का समवाय, त्रिकाली उपादान का सूचक है, तथा काललब्धि नाम का समवाय क्षणिक उपादानगत योग्यता का सूचक है। जैसे जिस क्षणिक उपादानरूप पर्याय की योग्यता जिस समय घोड़े को जानने की हो उस समय उसमें हाथी ज्ञेय नहीं बन सकेगा। दोनों प्रकार के उपादानों का अस्तित्व एकसाथ होने पर भी कार्य की सम्पन्नता में कारणपना तो क्षणिक उपादान को ही है और उसके कार्य का उपादेय कहा जावेगा। इस उपादेय का अर्थ “ग्रहण करने योग्य” यहाँ नहीं समझना।

उपरोक्त ज्ञानपर्याय का निमित्त घोड़ा भी, उस समय का ज्ञेय बनने के लिये नहीं परिणाम है, उसको तो यह पता भी नहीं होता कि कोई उसको जान भी रहा है। वह तो अपनी उपादानगत योग्यतानुसार किसी के ज्ञान की अपेक्षा रखे बिना, अपने आप में आप ही परिणम रहा है, कोई जाने अथवा नहीं जाने। लेकिन घोड़े में प्रमेयत्वगुण होने के कारण उसको जो कोई भी जाने उसको जानने में निमित्त अवश्य बन जाता है अर्थात् कहलाता है। लेकिन कार्य की सम्पन्नता के समय दोनों की योग्यता परिणमन के अनुसार वे सहज ही कार्य अनुकूल और अनुरूप बने हुये दिखने लग जाते हैं। गोम्मटसार जीवकांड की गाथा ५८० से भी उपरोक्त विषय को समर्थन प्राप्त होता है। :—

निमित्त मात्रं तत्र, योग्यता वस्तुनि स्थिता।

बाहिर्निश्चय कालस्तु, निश्चितं तत्त्व दर्शिभिः ॥

वस्तु में स्थित परिणमन रूप योग्यता ही कार्य का नियामक कारण है, जिसे अंतरंग निमित्त कहा है। निश्चय काल द्रव्य को बाह्य निमित्त कारण कहा है।

इसप्रकार उस कार्य के सम्पन्न करने वाले भिन्न-भिन्न दो द्रव्य दिखने लगते हैं। ऐसी स्थिति में विवेकी पुरुष को तो अपने विवेक से उस कार्य के वास्वतिक कर्ता को ढूँढना पड़ेगा। तब स्पष्ट ज्ञात हो जावेगा

कि जो द्रव्य स्वयं कार्यरूप परिणमा है, वह द्रव्य ही वास्तविक उस कार्य का कर्ता है, अन्य द्रव्य तो उस कार्य का कर्ता हो ही नहीं सकता ? लेकिन उस समय उपादान का कार्य भी उस निमित्त जैसा ही दिखता है इस कारण निमित्त को कर्ता कहना तो मात्र उपचार ही है, लेकिन फिर भी उसको निमित्त कर्ता कहा गया है । वास्तव में उस कार्य का स्वामी तो वह उपादान ही है ।

जीवद्रव्य में निमित्त-नैमित्तिकपना

प्रश्न :— उपरोक्त कथन से जीवद्रव्य के अतिरिक्त पाँचों द्रव्यों के स्वतंत्र परिणमन, उनके आपस का संबंध एवं निमित्त-नैमित्तिक संबंध आदि समझ में आ सकते हैं, लेकिन जीवद्रव्य तो जानने वाला है यह तो किसी के भी भले-बुरे आदि कार्यों में निमित्त बन सकता है ? हमारा प्रयोजन तो हमारी भूल जानकर भूल निकालना है, अतः इस विषय की भी स्पष्टता आवश्यक है ।

उत्तर :— जीव भी छह द्रव्यों में से ही तो एक द्रव्य है जो अन्य पाँच द्रव्यों का स्वभाव है वह ही जीव का स्वभाव है एवं हो सकता है । सभी द्रव्य जिसप्रकार से “उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तंसत्” हैं, उसीप्रकार से जीव भी निरन्तर, अनवरतरूप से, ध्रुव रहते हुए भी पर्यायें पलटता ही रहता है । मात्र अन्तर है तो इतना ही है कि अन्य द्रव्यों में, जिसप्रकार अपने-अपने विशेष गुण जैसे पुद्गल में स्पर्श, रस, गन्धादिक हैं धर्म में गति परिणमन में निमित्तत्व, अधर्म में स्थिति परिणमन में निमित्तत्व आदि हैं उसी प्रकार जीव में भी ज्ञान अर्थात् जाननपना एक विशेषगुण है । अन्य सभी सामान्य गुणों के परिणमन सभी द्रव्यों में समान होते हैं, अतः सभी कार्यों में समानता है । विशेष गुणों के संबंध में विचार करें तो जब हर एक द्रव्यों के विशेष गुण भी अपनी-अपनी क्वालिटी छोड़कर अन्य किसी रूप भी परिणमन नहीं करते, तब आत्मा का ज्ञानगुण अपनी

क्वालिटी जाननपना छोड़कर जानन क्रिया के अतिरिक्त और क्या और कैसे कुछ भी कर सकेगा ?

एक जाननपने के आधार पर समझा जावे तो, सिद्धांत यह है कि अगर कोई भूल होती है तो भूल भी जानने वाला ही कर सकता है, जो कुछ जानता ही नहीं है वह तो भूल करेगा ही कैसे अतः जो कुछ भी नहीं जानने वाले पाँचों द्रव्य कार्य कर रहे हैं वे सब कार्य तो भूल बिना के ही हैं अर्थात् स्वाभाविक हैं। अतः जीव भी अगर स्वाभाविक रूप से कार्य करता रहे तो उसके भी सब कार्य भी, बिना भूल के ही होने चाहिए। लेकिन अगर वैसा न करके वह अन्य रूप से करने लगता है तो यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वह ही भूल करता है, क्योंकि भूल कर सकने की सामर्थ्य भी तो उस अकेले जीव में ही है, अतः इस दृष्टि को ध्यान में रखकर हमको जीवद्रव्य के कार्यकलाप का विश्लेषण करना चाहिए।

इस जीव में एक ज्ञानगुण ही ऐसा है जो अन्य द्रव्यों से अधिकता अर्थात् विशेषता वाला है। अगर यह जीव मात्र जानना-जाननारूप उत्पाद निरन्तर करता रहे अर्थात् उस जाननक्रिया में जानने मात्र के अतिरिक्त अन्य कोई प्रकार की घालमेल नहीं करे तो, जैसे सब द्रव्य अपने स्वाभाविक रूप से परिणमन कर रहे हैं, वैसे ही यह भी अनवरतरूप से परिणमन करता हुआ रह सकता है। जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण भगवान् अरहंत की आत्मा है। भगवान् अरहंत की आत्मा जानने रूप प्रवर्तते हुए भी, अपने ज्ञान में अन्य कोई प्रकार की घालमेल नहीं करती, अतः उनका परिणमन सभी द्रव्यों के समान स्वाभाविक परिणमन बना रहता है। अन्य द्रव्य तो अचेतन होने के कारण स्वाभाविक परिणमन करते रहते हैं और सुख-दुःख की अनुभूति नहीं करते। जीव चेतनद्रव्य होने से स्वाभाविक परिणमन करता है तो, सुख की अनुभूति करता है और अस्वाभाविक परिणमन करता है तो दुःख की अनुभूति करता है। जब वह स्वाभाविक परिणमन

करता है तो उसके भी छह द्रव्यों के साथ ज्ञेय-ज्ञायक संबंध रूप निमित्त-नैमित्तिक संबंध बनता ही रहता है । अतः उसको दुख की अनुभूति नहीं होगी । लेकिन जब वही जीव अपने अभिप्राय की विपरीतता के द्वारा जाननक्रिया का कर्ता न रहकर अन्य कुछ भी गड़बड़ी खड़ी करता है अर्थात् उनके साथ संबंध जोड़ता है तब उस गड़बड़ क्रिया में, अन्य जो भी द्रव्य उसके अनुकूल दिखते हैं, उनको उस अनुकूलता का कारण मानने लगता है । इसप्रकार यह जीव ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध बनाने में भूल करता है । निमित्त-वाला द्रव्य इसको भूल नहीं करा देता, वरन् यह जीव ही अपनी गलत मान्यता के कारण अपनी भूल, निमित्त पर थोपता रहता है और राग-द्वेष को बढ़ाता रहता है ।

**शास्त्र में यह भी तो आता है, कर्म उदय आने पर
विकार होता ही है ?**

गोम्मटसार ग्रंथ में आता है कि “जब-जब जैसे कर्म का उदय आता है तब-तब आत्मा को वैसा ही विकार होता है, अन्य प्रकार का नहीं होता”-आदि-आदि कथनों से तो ऐसा लगता है कि कर्म का उदय ही आत्मा में विकार उत्पन्न करता है ? अतः आपके द्वारा बताया गया स्वतंत्र परिणमन का सिद्धांत उक्त आगम कथन से मेल नहीं खाता ?

नाटक समयसार के सर्व विशुद्ध ज्ञान अधिकार में पं. बनारसीदासजी ने उक्त प्रश्न पर समाधान निम्न अनुसार दिया है :—

“कोऊ शिष्य कहै स्वामी रागदोष परिनाम,
ताकौ मूल प्रेरक कहहु तुम कौन है ।
पुगल व हरम जोग कियोँ इन्द्रिन को भोग,
कियोँ धन कियोँ परिजन कियोँ भौन है ।
गुरु कहै छहौँ दर्व अपने-अपने रूप,
सबनि कौ सदा असहाई परिनौन है ।

कोऊ दरब काहू को न प्रेरक कदापि तातैं,
रागदोष मोह मृषा मदिरा अचौन है ॥ ६१ ॥

फिर कहते हैं कि :—

कोऊ मूरख यों कहै रागदोष परिनाम,
पुगल की जोरावरी बरतै आतमराम ॥ ६२ ॥
ज्यों-ज्यों पुगल बल करै, धरि-धरि कर्म जुभेष,
रागदोष को परिनमन त्यों-त्यों होई विशेष ॥ ६३ ॥
इह विधि जो विपरीत पख गहै सहहै कोइ,
सो नर राग विरोध सौं कबहूँ भिन्न न होई ॥ ६४ ॥
सुगुरु कहै जगमें रहे, पुगल संग सदीव,
सहज सुद्ध परिनमन का, औसर लहै न जीव ॥ ६५ ॥
तातैं चिद्भावनिविषैं, समरथ चेतनराव,
रागविरोध मिथ्यातमैं, समकित में सिवभाव ॥ ६६ ॥

पंडित टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३११ पर उपरोक्त विवेचन का ही समर्थन किया है :—

“यहाँ यह प्रश्न है कि — द्रव्यकर्म के उदय से भावकर्म होता है, भावकर्म से द्रव्यकर्म का बंध होता है, तथा फिर उसके उदय से भावकर्म होता है— इसीप्रकार अनादि से परम्परा है, तब मोक्ष का उपाय कैसे हो ?

समाधान :— कर्म का बंध उदय सदाकाल समान ही होता रहे तब तो ऐसा ही है; परन्तु परिणामों के निमित्त से पूर्वबद्ध कर्म के भी उत्कर्षण-अपकर्षण-संक्रमणादि होने से उनकी शक्ति हीनाधिक होती है; इसलिये उनका उदय भी मंद-तीव्र होता है ।

और तत्त्वनिर्णय न करने में किसी कर्म का दोष है नहीं, तेरा ही दोष है; परन्तु तू स्वयं तो महन्त रहना चाहता है और अपना दोष कर्मादिक को लगाता है, सो जिन आज्ञा माने तो ऐसी अनीति संभव नहीं है । तुझे विषय कषाय रूप ही रहना है, इसलिये झूठ बोलता है ।”

इसप्रकार उपरोक्त आगम वाक्यों से स्पष्ट है कि अपने विकार का उत्पादक कर्म को मानना तो उल्टी मान्यता है, इसप्रकार की मान्यता से आप स्वच्छन्दता का पोषण करना चाहता है। लौकिक में भी ऐसा माना जाता है कि अपराध करने वाले को, अपराध छुड़ाने के लिए, सबसे पहले उसको अपराध की स्वीकृति कराई जाती है. और स्वीकार कर लेने के बाद ही, वह भविष्य में ऐसा अपराध नहीं करेगा— यह विश्वास किया जा सकता है। तो क्या उसके भी विपरीत, धर्मशास्त्र ऐसी आज्ञा देगा कि क्रोधादि विकारी भाव तो आत्मा स्वयं करे और उसकी जिम्मेदारी आत्मा की नहीं होकर कर्म की है ? इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा तो क्रोधादि भावों को कम-ज्यादा अथवा अभाव कर ही नहीं सकेगा, उससे तो लोक में बुरे भाव छोड़ने का और अच्छे भाव करने का उपदेश निरर्थक सिद्ध हो जावेगा ? और जिनवाणी का उपदेश भी रागादि भावों के बढ़ानेवाला सिद्ध होगा ? जो कि असंभव है, क्योंकि आत्मशुद्धि का मार्ग तो एकमात्र वीतरागता है।

इससे यह भी सिद्ध होगा कि कर्म का जब-जब उदय आवेगा तब-तब आत्मा को विकार करना ही पड़ेगा ? लेकिन ऐसा उपरोक्त कथनों का अभिप्राय नहीं है। उल्टी मान्यता के कारण, इसकी आदत पड़ी हुई है कि अपराध तो स्वयं करता है और दूसरे के सिर थोपने के लिये किसी कर्म को या नोकर्म को कारण बताकर, अपने आप को निरपराधी बताता व सिद्ध करता रहता है। जैसे किसी के गाली देने पर क्रोध तो आप करते हैं, और अपराध गाली देने वाले को मानकर उस पर क्रोध करता है। उसीप्रकार शास्त्र पढ़कर शास्त्र के कथनों को अपनी उल्टी मान्यता दृढ़ करने के लिये उल्टा अर्थ निकालता रहता है।

उक्त कथनों का यथार्थ अभिप्राय क्या है ?

उत्तर :— जीव जब स्वयं विकारी भाव करता है, उस समय विकारी भावरूप कार्य तो जीव ने ही किया है। अतः यथार्थ कारण तो

जीव का उस समय का परिणमन है लेकिन उसी समय, “अन्य निमित्तरूप द्रव्य कौन था” उसका ज्ञान कराने के लिये तथा जीव की विकारी भावरूप पर्याय की जाति एवं तारतम्यता का ज्ञान कराने के लिये, कर्म की प्रधानता से कथन किया गया है ; जीव का कर्म के आधीन होना सिद्ध करने के लिए नहीं। यह ही उक्त कथनों का अभिप्राय है।

जीव की विकारी पर्याय एवं कर्म का क्या संबंध है तथा उसकी पर्याय का ज्ञान कराने के लिए कर्म के माध्यम से विवेचन क्यों किया गया आदि विषय पर विस्तृत विवेचन भाग दो में किया जावेगा।

निमित्त नैमित्तिक शब्द द्वारा भ्रम

निमित्त-नैमित्तिक शब्द से ही ऐसा लगता है कि नैमित्तिक कार्य में निमित्त का कुछ प्रभाव तो मानना ही चाहिए ? ऐसा भ्रम भी निर्मूल है। क्योंकि कार्य तो द्रव्य की उस समय की पर्याय है, उस पर्याय की उत्पत्ति के समय स्व और पर दोनों हैं। उस ही अपेक्षा से उपादान की मुख्यता से उस एक ही कार्य को उपादेय शब्द से कहा जाता है तथा निमित्त की मुख्यता से उस ही कार्य को नैमित्तिक शब्द से कहा जाता है। यहाँ उपादेय शब्द का अर्थ, ग्रहण करने योग्य नहीं लेना उपादेय के साथ उपादान का व्याप्य-व्यापकपना है लेकिन निमित्त के साथ व्याप्य-व्यापकता का अभाव होने से, उस कार्यरूप पर्याय में निमित्त का अंशमात्र भी प्रभाव आदि नहीं हो सकता।

इसप्रकार छह द्रव्यों में आपस में निमित्त-नैमित्तिक संबंध अनिवार्य होते हुए भी, निमित्त, अन्य द्रव्य होने के कारण, नैमित्तिक पर्यायों में अंशमात्र भी किसी प्रकार का असर, प्रभाव, परिवर्तन आदि नहीं कर सकता।

संयोगीदृष्टि एवं स्वभावदृष्टि

उपरोक्त प्रकार की वस्तुव्यवस्था होने पर भी हमको ऐसा क्यों लगता है कि निमित्त से ही कार्य हो रहा है?

समाधान :— इसका कारण तो मात्र अपनी देखने की दृष्टि की भूल है। क्योंकि कार्य तो एक ही हुआ है, लेकिन उसमें कारण दो हैं। एक तो वस्तु ने स्वयं उस कार्यरूप परिणमन किया है। अतः कार्य का कारण वह वस्तु है, जिस को आगम में उपादान कारण के नाम से कहा गया है। दूसरा कारण वह है कि जिसने स्वयं ने तो कार्यरूप परिणमन नहीं किया है, लेकिन उस कार्य की उत्पत्ति के समय ही अपने आप में परिणमन करते हुए, उस कार्य के अनुकूल रूप था। अर्थात् अनेक द्रव्यों के परिणमन में उसका ही परिणमन, उपादान के कार्यरूप परिणमन के अनुकूल हुआ है। उस ही को आगम में निमित्तकारण से कहा गया है। जैसे कि पानी रूपी पुद्गल के स्कंधों का ठंडी अवस्था से गरम रूप परिणमन तो पानी रूपी पुद्गल स्कंधों का ही हुआ है; अग्नि का एक अंश भी पानी में नहीं आया लेकिन अग्नि की ज्वाला रूप अवस्था की उत्पत्ति एवं पानी की गरम अवस्था रूप उत्पत्ति का काल एक ही था अर्थात् एक साथ ही दोनों होते हैं, इसी को आगम में एककालप्रत्यासत्ति के नाम से संबोधित किया गया है। इसप्रकार हमको तो मात्र अकेला कार्य ही दिखता है। हमारी विपरीत मान्यता के दो कारण दिखते ही नहीं हैं। साथ ही उस कार्य की उत्पत्ति में निमित्त बाह्य वस्तु होने से हमको ऐसा दिखता है कि इस निमित्त ने ही कार्य का उत्पादन किया हो। क्योंकि उसके उत्पादन के समय हमको वैसा ही उत्पादन करने की इच्छा भी होती है और अपना कुछ पुरुषार्थ हुआ भी दिखता है। लेकिन असली उत्पादक जो वस्तु है वह हमारी दृष्टि से बाहर ही रह जाती है। ऐसा दिखने का मूल कारण तो देखने वाले की दृष्टि का दोष ही है, क्योंकि स्वभाव की मुख्यता से देखने वाले को तो वह कार्य उस वस्तु का परिणमन ही दिखता है। और संयोग अर्थात् निमित्त की मुख्यता से देखने वाले को, निमित्त ने ही उस कार्य का उत्पादन किया ऐसा दिखता है। इसमें बुद्धिमान् को स्वयं ही यह निर्णय करना चाहिए कि वास्तविक स्थिति क्या है और

उस कार्य का असली उत्पादक कौन है, तथा असली उत्पादक नहीं होते हुए भी उसको कारण कहने में क्या रहस्य है तथा मेरे को किसको सत्य मानने से वीतरागता का उत्पादन होगा आदि आदि द्वारा यथार्थ निर्णय करना चाहिये ।

स्वभावदृष्टि वीतरागता की एवं संयोगी सरागता की उत्पादक

स्वभावदृष्टि से कार्य की उत्पत्ति मानने वाले की स्वाधीन दृष्टि होने से, परसंयोग की अपेक्षा नहीं रहती निमित्त तथा परसंयोग को जुटाने की उत्सुकता समाप्त हो जाने से आत्मा की कर्तृत्वबुद्धि टूट जाती है और ज्ञायकपने की श्रद्धा जाग्रत होने से वीतरागता की उत्पत्ति होती है । फलतः क्रमशः रागादि का अभाव होने लगता है और वीतरागता की वृद्धि प्रारंभ हो जाती है ।

निमित्ताधीन दृष्टि से, कार्य की उत्पत्ति माननेवाले की हमेशा पराधीन दृष्टि बनी रहती है तथा परसंयोगों को अनुकूल करने का एवं प्रतिकूल परिस्थितियों को बदल देने का विश्वास होने से कर्तृत्वबुद्धि दृढ़ होती है । फलतः निरंतर संयोगों निमित्तों को अनुकूल करने एवं प्रतिकूलता हटाने के प्रयासों में ही दत्तचित्त रहता है— घानी के बैल की तरह २४ घण्टे लगा रहता है । फलस्वरूप उन संयोगों को अपने प्रयासों के अनुकूल नहीं होने पर राग और द्वेष बढ़ाता है, वे पर निमित्त इसके आधीन तो हैं नहीं जो इसकी इच्छा के अनुकूल परिणम जावें, उनका परिणमन उन द्रव्यों का स्वतंत्र कार्य है, वे तो अपनी-अपनी योग्यतानुसार ही परिणमंगे, इसका राग-द्वेष करना तो निरर्थक ही रहा । फलतः संयोगी दृष्टि सरागता की ही उत्पादक है ।

शंका :— कार्य की सम्पन्नता में पुरुषार्थ का स्थान उपरोक्त कथनों से तो ऐसा लगता है कि जब सभी कार्य अपने-अपने समय पर स्वतंत्रतया अपने कारणों से होते रहते हैं, कोई उनमें व्यवधान भी नहीं कर सकता तथा साधक भी हो सकता नहीं, तब तो पुरुषार्थ की कोई

आवश्यकता ही नहीं रहती ? इससे तो नियतवाद का पोषण होगा, जो कि आगम सम्मत है नहीं ?

समाधान :— किसी भी द्रव्य का जो भी कार्य, किसी भी समय सम्पन्न होता है तो उसमें अनेक कारण मिलते हैं । मिलाने नहीं पड़ते यथा मोक्षमार्ग प्रकाशक के नवें अध्याय में कहा है कि “एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं ।” लेकिन कथन किसी एक कारण की मुख्यता से ही हो पाता है । उससे ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि कार्य होने के समय बाकी के अन्य कारणों का सद्भाव ही नहीं था । साथ ही यह भी निश्चित है कि अन्य कारणों को मिलाने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती । जब-जब भी कार्य की सम्पन्नता होती है सभी कारण स्वतः ही बिना मिलाये- इकट्ठा करें मिलेंगे ही मिलेंगे । ऐसा नहीं है कि कार्य की सम्पन्नता किसी कारण के नहीं मिलने के कारण कभी रुक जावे ।

निष्कर्ष यह है कि विश्व के हर एक द्रव्य का हर समय कोई न कोई प्रकार का कार्य तो होता ही रहता है, और हर समय ही सभी कारण स्वतः रूप से अपने-अपने परिणामन से परिणामते हुए रहते ही हैं । इस से ही, जब-जब भी कार्य की सम्पन्नता के कारणों का विवेचन किया जावेगा, उसको किसी एक कारण की मुख्यता से हुवा ही कहना पड़ेगा और अन्य कारणों को गौण रखना ही पड़ेगा । इसप्रकार वस्तु की कार्य सम्पन्नता में, सभी द्रव्यों की स्वतंत्रता सम्पन्न, कारण कार्य व्यवस्था है ।

पाँच समवाय व कार्य की सम्पन्नता

अब यह समझना शेष कि वे कारण कौन-कौन हैं ? इस संबंध में पण्डित फूलचंदजी सिद्धान्त शास्त्री ने “जैन तत्त्व मीमांसा” पुस्तक के द्वितीय संस्करण के पृष्ठ १३२ पर इसप्रकार लिखा है —

पाँच हेतुओं का समवाय

“साधारण नियम यह है कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में पाँच कारण नियम से होते हैं । स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, नियति और कर्म । यहाँ पर

स्वभाव से द्रव्य की स्वशक्ति या नित्य उपादान लिया गया है। काल से स्वकाल और परकाल का ग्रहण किया है। पुरुषार्थ से जीव का बल-वीर्य लिया गया, नियति से समर्थ उपादान या निश्चय की मुख्यता दिखलाई गई है। इनहीं पाँच कारणों को सूचित करते हुए पंडितप्रवर बनारसीदास जी नाटक समयसार के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में कहते हैं —

“पद सुभाव पूरवउर्द निहचै उद्यम काल ।

पच्छपात मिथ्यात पथ सरवंगी शिवचाल ॥ ४२ ॥

गोम्मटसार कर्म काण्ड गाथा ८७९ से ८८३ तक में पाँच प्रकार के एकान्तवादियों का कथन आता है। उसका आशय इतना ही है कि जो इनमें से किसी एक से कार्य की उत्पत्ति मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है और जो कार्य की उत्पत्ति में इन पाँचों समवायों को स्वीकार करता है, वह सम्यग्दृष्टि है। अष्टसहस्री पृष्ठ २५७ में भट्टकालंकदेव ने एक श्लोक दिया है उसका भी यही आशय है। श्लोक इस प्रकार है—

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवयायश्च तादृषः ।

सहयातस्तादृषाः सन्ति यादृषी भवितव्यता ॥

अर्थ :— जिस जीव की जैसी भवितव्यता होनहार होती है, उसकी वैसी ही बुद्धि हो जाती है। वह प्रयत्न भी उसीप्रकार करने लगता है, और उसे सहायक भी उसी के अनुसार मिल जाते हैं।

अष्टसहस्री का उपरोक्त कथन भवितव्यता की मुख्यता से किया गया है, लेकिन साथ ही उसमें बाकी सभी समवायों का तत्समय होना भी स्वीकार किया गया है। इसप्रकार किसी भी एक समवाय की मुख्यता पूर्वक कथन अन्य समवायों को गौणपने रखते हुए किया जाता है वह सम्यक् है, इसके विपरीत अन्य समवायों के बिना मात्र एक ही समवाय से कार्य की उत्पत्ति माने वह मिथ्या है। ऐसी मान्यता वाले को गोम्मटसार कर्मकाण्ड में एकान्ती मिथ्यादृष्टि कहा है।

उपरोक्त पाँचों समवायों का स्व और पर के रूप में वर्गीकरण करें तो चार तो स्व कहे जावेंगे यथा स्वभाव, काललब्धि, होनहार एवं पुरुषार्थ ये चारों तो जीव में ही होंगे लेकिन एक निमित्त ही पर रूप समवाय रहेगा। इसी वर्गीकरण को जिनवाणी में स्व को अंतरंग आभ्यंतर कारण कहा है और पर को बहिरंग बाह्य कारण कहा है।

इसप्रकार जिनवाणी में अनेक नामों से, अनेक अपेक्षाओं से, अनेक जगह, अनेक-अनेक प्रकार के कथन आते हैं, लेकिन सबका तात्पर्य, वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त के माध्यम से समझकर, आत्मा में वीतरागता प्रगट करना है।

आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने स्वयंभू स्तोत्र की वासुपूज्य भगवान की स्तुति के श्लोक में भी कहा है कि :—

बाह्योतरोपाधिसमग्रतेय कार्येषु द्रव्यगतः स्वभावः ।

नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंस तेनामिबन्धास्तमृषिर्वुधानाम् ॥ ५ ॥

अर्थ :— कार्यों में यह बाह्य और आभ्यंतर दोनों कारणों की समग्रता, हे भगवन् आपके मत में द्रव्यगत स्वभाव है। अन्यथा पुरुष को मोक्ष की विधि भी नहीं बनती। इसलिए ऋद्धियों से युक्त आप बुधजनों से वन्दनीय है।

उपरोक्त श्लोक द्वारा भी यही सिद्ध किया है कि स्व और पर दोनों कारणों की समग्रता में ही, कार्य की उत्पत्ति होती है। पाँच प्रकार की स्थितियाँ सहजरूप से बनती ही बनती है; बनानी नहीं पड़ती, मिलाना नहीं पड़ती। वस्तु की स्थिति ही ऐसी है कि पाँचों स्थितियों का समवायीकरण निश्चितरूप से होता ही होता है। उन पाँच समवायों में एक पुरुषार्थ नाम का समवाय भी है अतः प्रश्न ही समाप्त हो जाता है कि कार्य की सम्पन्नता में पुरुषार्थ का कोई स्थान नहीं रहता।

मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ की मुख्यता

प्रश्न खड़ा होता है कि अगर कार्य की सम्पन्नता में पाँचों समवाय स्वतः मिलते ही मिलते हैं, जिन पाँचों में पुरुषार्थ नाम का समवाय भी शामिल है, तो हमको पुरुषार्थ करने का भी अवकाश कहाँ रह जाता है? फलतः नियतवाद का ही प्रसंग उपस्थित रहेगा।

इसका समाधान आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में नवमें अधिकार के पुरुषार्थ वाले प्रकरण में निम्न अनुसार दिया है।

“यहाँ प्रश्न है कि मोक्ष का उपाय काललब्धि आने पर भवितव्यता-नुसार बनता है, या मोहादिक के उपशामदि होने पर बनता है, या अपने पुरुषार्थ से उद्यम करने पर बनता है सो कहो। यदि प्रथम दोनों कारणों के मिलने पर बनता है तो हमें उपदेश किसलिये देते हो? और पुरुषार्थ से बनता है तो उपदेश सब सुनते हैं उनमें कोई उपाय कर सकता है, कोई नहीं कर सकता; सो कारण क्या?”

समाधान :- एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं। सो मोक्ष का उपाय बनता है वहाँ तो पूर्वोक्त तीनों ही कारण मिलते हैं, और नहीं बनता वहाँ तीनों ही कारण नहीं मिलते। पूर्वोक्त तीनों कारण कहे उनमें काललब्धि व होनहार तो कोई वस्तु ही नहीं है; जिस काल में कार्य बनता है वही काललब्धि, और जो कार्य हुआ वही होनहार। तथा जो कर्म के उपशामदि हैं वह पुद्गल की शक्ति है, उसका आत्मा कर्ता-हर्ता नहीं है। तथा पुरुषार्थ से उद्यम करते हैं सो यह आत्मा का कार्य है; इसलिये आत्मा को पुरुषार्थ से उद्यम करने का उपदेश देते हैं।”

इसके आगे फिर कहते हैं कि — “इसलिये जो पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय करता है उसको सर्व कारण मिलते हैं और उसको अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है— ऐसा निश्चय करना।”

इसप्रकार उपरोक्त कथन से निश्चित होता है कि कार्य की सम्पन्नता में उपरोक्त पाँचों समवायों की एकसाथ स्वतः समग्रता होती ही है। लेकिन इन पाँचों में से जीव तो बुद्धिपूर्वक एकमात्र पुरुषार्थ ही करसकता है, बाकी के चारों समवायों के संबंध में यह जीव कुछ भी नहीं कर सकता। वे तो अपने आप ही स्वयं कार्य की सम्पन्नता के समय मिलेंगे ही मिलेंगे। अतः पाँच समवायों के सिद्धान्त समझने वाले का निःशंकतया एकमात्र पुरुषार्थ ही कर्तव्य रह जाता है, नियतवाद को कोई अवकाश नहीं रह सकता।

कर्मोदय में आत्मा का पुरुषार्थ अकार्यकारी कहने वाले कथनों का अभिप्राय

जिनवाणी में ऐसा कथन आता है कि जैसा-जैसा कर्म का उदय आता है, वैसे-वैसे आत्मा के भाव होते हैं। ऐसे कथनों के द्वारा ऐसी शंका खड़ी हो जाना स्वाभाविक है कि कर्म का उदय जब अनुकूल होगा, तभी आत्मा पुरुषार्थ कर पावेगा, अतः पुरुषार्थ करने का उपदेश निरर्थक दीखने लगता है ? लेकिन इस कथन का तात्पर्य ऐसा है नहीं, यह कथन तो पाँच समवायों में एक निमित्त समवाय भी है उसकी मुख्यता से किया गया है। निमित्त में कर्म हो, अथवा अन्य कोई नोकर्म आदि हो, सभी गर्भित हैं। इसका तात्पर्य ऐसा नहीं है कि कार्य की सम्पन्नता के समय अकेला एक निमित्त ही समवाय था और चारों समवायों का अभाव ही था। यह कथन एक निमित्त समवाय को मुख्य करके अन्य समवायों को गौणरूप रखते हुए किया गया है, क्योंकि कथन तो पाँच समवायों में से किसी एक समवाय की मुख्यता से ही हो सकता है, अन्य कोई उपाय ही नहीं। इसप्रकार के कथन को समझने के समय अपनी मान्यता स्पष्ट होनी चाहिए कि कार्य की सम्पन्नता तो पाँचों की समग्रता में ही हुई है, मात्र कथन एक ही मुख्यता से किया गया है।

काललब्धि के अभाव में पुरुषार्थ अकार्यकारी

कथन का अभिप्राय

इसीप्रकार जिनवाणी में, काललब्धि की मुख्यता से कथन आते हैं, तथा भवितव्यता योग्यता नियति, होनहार, क्रमबद्ध आदि की मुख्यता से भी कथन आते हैं, उन कथनों का भी उपरोक्त सिद्धान्त को दृष्टिगत रखकर ही समझना चाहिए। आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने स्वयंभूस्तोत्र की सुपार्श्वनाथ भगवान की स्तुति के श्लोक ३ में भवितव्यता की मुख्यता से कहा भी है कि :—

अलंघ्य शक्ति भवितव्यतेतं हेतुद्वया विष्कृत-कार्य-लिंगा ।

अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्योंष्विति साध्ववादी ॥३॥

अर्थ :— हेतुद्वय के द्वारा उत्पन्न होने वाला कार्य ही जिसका लिंग है ऐसी यह भवितव्यता अलंघ्य शक्ति है। अहंकार से पीड़ित प्राणी सुखादिक कार्यों के सम्पन्न करने में समर्थ नहीं है। यह आपने ठीक ही कहा है अर्थात् जैसी वस्तुस्थिति है वैसा कहा है ॥ ३ ॥

काललब्धि की मुख्यतापूर्वक किये गये कथनों का अभिप्राय तो “कर्तृत्वपने” की मान्यता के निषेध करने का होता है।

जीव को अनादिकाल से कर्तृत्वबुद्धि का अभिप्राय तो अंतर में बैठा हुआ ही है। और जिनवाणी के पुरुषार्थ की मुख्यता से किये गये कथनों को पढ़कर, विपरीत मान्यता वाला जीव, उन के द्वारा भी अपनी कर्तृत्व बुद्धि की मान्यता के पोषक कथनों द्वारा और भी दृढ़ कर लेता है, लेकिन उन कथनों का अभिप्राय तो उस अनादिकालीन मिथ्या मान्यता का अभाव कराके, जीव को यथार्थ मार्ग पर लगाने का होता है।

जैसे कलश टीकाकार पांडेराजमलजी ने कलश ४ की व्याख्या के अंत में लिखा है कि :—

“यद्यपि सम्यक्त्व रूप जीवद्रव्य परिणमता है तथापि काललब्धि के बिना करोड़ उपाय जो किये जाय तो भी जीव को सम्यक्त्व वस्तु , यत्नसाध्य नहीं, (अथवा कर्तृत्व रूप यत्नसाध्य नहीं) सहज रूप है ॥ ४ ॥

उपरोक्त कथन काललब्धि पोषक दिखते हुए भी यथार्थ पुरुषार्थ (अकर्तृत्वरूपी यथार्थ पुरुषार्थ) का पोषक है । इसीप्रकार अन्य कथनों का भी अभिप्राय समझना चाहिए । क्योंकि जिनवाणी का कोई भी कथन, किसी भी मुख्यता से किया गया हो, सबका उद्देश्य एकमात्र वीतरागता ही प्राप्त करने का अर्थात् पोषण करने का होता है ।

आचार्य अमृतचंद्रदेव ने पंचास्तिकाय संग्रह की गाथा १७२ की टीका में कहा है कि :—

“अलं विस्तरेण । स्वस्ति साक्षान्मोक्षमार्गसारत्वेन शास्त्र
तात्पर्यभूताय वीतरागत्वायेति ।”

अर्थ :— विस्तार से वस हो । जयवंत वर्ते वीतरागता जो कि साक्षात् मोक्षमार्ग का सार होने से शास्त्र तात्पर्यभूत है ।

जिनवाणी के स्वभाव एवं भवितव्यता की मुख्यता
से किये गये कथनों का अभिप्राय

उपरोक्त प्रकार से जिनवाणी में पाँचों समवायों में “स्वभाव” नामक समवाय की मुख्यता से भी कथन आते हैं । उसका भी अभिप्राय मात्र यही दिखाने का है कि चेतन द्रव्य में ही चेतन का कार्य होगा, अचेतन में नहीं होगा । जैसे आत्मा में विकार होने की स्थिति में वह विकार जीव में ही हो सकेगा । क्योंकि वे सब अचेतन पदार्थ हैं; उनमें वैसा होने का सामर्थ्य ही नहीं है । ऐसा नहीं मानने से तो वेदांत आदि की मान्यता के अनुसार एकान्त मिथ्यादृष्टि हो जाता है ।

एक समवाय भवितव्यता के नाम से भी है । इस ही को नियति के नाम से क्रमबद्ध, होनहार आदि अनेक नामों से कहा जाता है । उन

सब कथनों का अभिप्राय भी मात्र यही सूचित करता है कि कार्य की सम्पन्नता के समय तो पाँचों ही समवायों का समवायीकरण था, अर्थात् एक साथ एकत्रित हो जाना सूचित करता है, ऐसे कथनों का अभिप्राय भी कर्तृत्वबुद्धि की विपरीत मान्यता, अभाव करना ही है। क्योंकि पाँचों ही समवायों को एकत्रित करने अर्थात् जुटाने वाला तो कोई है ही नहीं और न हो ही सकता है। यह तो विश्व का स्वाभाविक अनादि निधन व्यवस्था है। अतः इनको मिलाने वाला कोई नहीं हो सकता।

मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३०९ पर कहा गया है कि :—

“यहाँ प्रश्न है कि मोक्ष का उपाय काललब्धि आने पर भवितव्यानुसार बनता है, या मोहादि के उपशमादि होने पर बनता है, या अपने पुरुषार्थ से उद्यम करने पर बनता है सो कहो। यदि प्रथम दोनों कारण मिलने पर बनता है तो हमें उपदेश किसलिये देते हो? और पुरुषार्थ से बनता है तो उपदेश सब सुनते हैं, उनमें कोई उपाय कर सकता है, कोई नहीं कर सकता, सो कारण क्या ?

समाधान :— एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं। सो मोक्ष का उपाय बनता है वहाँ तो पूर्वोक्त तीनों ही कारण मिलते हैं, और नहीं बनता वहाँ तीनों ही कारण नहीं मिलते। पूर्वोक्त तीन कारण कहे उनमें काललब्धि व होनहार तो कोई वस्तु नहीं हैं, जिस काल में कार्य बनता है वही काललब्धि, और जो कार्य हुआ वही होनहार। तथा जो कर्म के उपशमादिक हैं वह पुद्गल की शक्ति है उसका आत्मा कर्ता हर्ता नहीं है तथा पुरुषार्थ से उद्यम करते हैं सो यह आत्मा का कार्य है, इसलिए आत्मा को पुरुषार्थ से उद्यम करने का उपदेश देते हैं।”

उपरोक्त प्रकार से पुरुषार्थ नाम के समवाय को ही मुख्य कहा है। अतः उसका अभिप्राय एकमात्र आत्मा का अर्कत्वस्वभाव है, वह समझना है। और यह ही एकमात्र आत्मा का वास्तविक पुरुषार्थ है।

पुरुषार्थ का शब्दार्थ भी है, “पुरुष” = आत्मा और “अर्थ” = प्रयोजन, अर्थात् आत्मा का प्रयोजन वही आत्मा का पुरुषार्थ है। आत्मा का प्रयोजन तो एकमात्र पूर्ण दशा प्राप्त करने का अर्थात् सिद्ध दशा प्राप्त करने का है। उनका आत्मा तो एकमात्र ज्ञायक और अकर्ता स्वभावी ही है, और यही एकमात्र वीतरागता का उत्पादक है। उनका आत्मा तो अपने आपको जाननेवाला - ज्ञायक रहते हुए भी, पर को जानते तो हैं लेकिन अपने अकर्तापन के स्वभाव के कारण मात्र जानने के स्वभाव वाले हैं। इसलिये ऐसी सिद्ध दशा प्राप्त करने का मार्ग भी, उसका पोषक ही तो हो सकता है। राग को उत्पन्न करने वाला मार्ग नहीं हो सकता। अतः प्रमाणित होता है कि आत्मा का ज्ञायक अकर्ता मानकर, वैसा बनने का पुरुषार्थ ही आत्मा का यथार्थ पुरुषार्थ है।

इसप्रकार कार्य की सम्पन्नता में, पाँचों समवायों की स्वतंत्रता पूर्वक संपन्न हुई समग्रता का स्वीकार करते हुए, आत्मा को करने योग्य कार्य कार्य तो, एकमात्र ज्ञायक-अकर्ता समझने एवं परिणमन करने का पुरुषार्थ ही है। ऐसा मानकर मोक्षमार्ग प्राप्त करने का यथार्थ प्रयत्न करना चाहिये, यही एकमात्र सम्पूर्ण द्वादशांग का सार है।

मोक्षमार्ग प्राप्त करने का पुरुषार्थ तत्त्व निर्णय

प्रश्न उपस्थित होता है कि मोक्षमार्ग प्राप्त करने का पुरुषार्थ क्या है ?

इस विषय की स्पष्टता के लिये जिज्ञासु जीवों को मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ में नौवें अधिकार का “पुरुषार्थ से ही मोक्ष प्राप्ति” का पूरा प्रकरण पृष्ठ ३०९ से ३१३ तक अवश्य पढ़ना चाहिए। उसके पृष्ठ ३१२ पर कहा है कि —

“तथा इस अवसर में जो जीव पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगाने का अभ्यास रखें, उनके विशुद्धता बढ़ेगी, उससे कर्मों की शक्ति हीन होगी, कुछ काल में अपने-आप दर्शनमोह का उपशम होगा,

तब तत्वों की यथावत् प्रतीति आवेगी, सो इसका तो कर्तव्य तत्त्वनिर्णय का अभ्यास ही है। इसी से दर्शनमोह का उपशम तो स्वयमेव होता है, उसमें जीव का कर्तव्य कुछ नहीं है।”

उपरोक्त विषयों पर विचार करने के पश्चात् भी जो जीव तत्व निर्णय रूप अभ्यास करने में उपरोक्त पाँचों समवायों में से किसी एक समवाय, कर्म अथवा अन्य निमित्त आदि का बहाना लेकर तत्व निर्णय में उपयोग नहीं लगाता, उसका भी पुरुषार्थ जाग्रत करने के लिए सचेत करते हुए उक्त ग्रंथ के पृष्ठ ३११ पर कहते हैं कि :—

“और तत्त्व निर्णय करने में किसी कर्म का दोष है नहीं, तेरा ही दोष है, परन्तु तू स्वयं तो महन्त रहना चाहता है और अपना दोष कर्मादिक को लगाता है, सो जिन आज्ञा माने तो ऐसी अनीति सम्भव नहीं है। तुझे विषय कषाय रूप ही रहना है, इसलिये झूठ बोलता है। मोक्ष की सच्ची अभिलाषा हो तो ऐसी युक्ति किसलिए बनाए? सांसारिक कार्यों में अपने पुरुषार्थ से सिद्धि न होती जाने, तथापि पुरुषार्थ से उद्यम किया करता है, यहाँ पुरुषार्थ खो बैठा, इसलिए जानते हैं कि मोक्ष को देखा-देखी उत्कृष्ट कहता है उसका स्वरूप पहिचानकर उसे हितरूप नहीं जानता। हित जानकर उसका उद्यम बनें सो न करे यह असंभव है।”

उपरोक्त कथन सुनकर भी जो जीव तत्त्व निर्णय में पुरुषार्थ नहीं लगाते उनके लिये उक्त ग्रंथ के पृष्ठ ३१२ पर ही कहा है कि :—

“इसलिये जो विचार शक्ति सहित हो और जिसके रागादिक मंद हो-वह जीव पुरुषार्थ से उपदेशादिक के निमित्त से तत्त्वनिर्णयादि में उपयोग लगाए तो उसका उपयोग वहाँ लगे और तब उसका भला हो। यदि इस अवसर में भी तत्त्व निर्णय करने का पुरुषार्थ न करे, प्रमाद से काल गंवाये-या तो मंद रागादि सहित विषय कषायों के कार्यों में ही प्रवर्ते, या व्यवहार धर्म कार्यों में प्रवर्ते तब अवसर तो चला जायेगा और संसार में ही भ्रमण होगा। उक्त तत्त्व निर्णय की महिमा बताते हुए पण्डित प्रवर

टोडरमलजी उक्त ग्रंथ के पृष्ठ २६० पर कहते हैं कि :—

“देखो तत्त्व विचार की महिमा । तत्त्व विचार रहित देवादिक की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, वृतादिक पाले, तपश्चरणादि करे, उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं, और तत्त्व विचार वाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है ।”

इसप्रकार उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस जीव को मोक्षमार्ग प्राप्त करने के लिये एकमात्र तत्त्व निर्णय रूप अभ्यास ही कार्यकारी है, अतः जिज्ञासु पात्र जीव को अन्य विकल्पों को छोड़कर एकमात्र तत्त्वनिर्णय करने का ही अभ्यास करना चाहिए। इस ही से मोक्षमार्ग की प्राप्ति संभव है।

तत्त्व निर्णय करना अथवा आत्मा के ज्ञायक अकर्ता स्वभाव का निर्णय करना ?

तत्त्व निर्णय का अभिप्राय “ज्ञायक-अकर्ता स्वभावी आत्मा है”, यह समझना ही है।

नव तत्त्वों में अथवा सात तत्त्वों में, स्वयं जीव भी तो एक तत्त्व है। अतः उसका स्वरूप एवं स्वभाव समझना भी तो तत्त्व निर्णय में ही सम्मिलित है। एक जीवतत्त्व ही तो सभी तत्त्वों में सारभूत और प्रयोजनभूत तत्त्व है; अतः एक अकेले मेरे जीवतत्त्व का स्वरूप समझने के लिये ही तो मुझे इन सभी तत्त्वों का स्वरूप समझना कार्यकारी होगा। मात्र सभी तत्त्वों के स्वरूप को समझ लेने मात्र से मेरे को क्या लाभ होने वाला है।

क्योंकि ये नवों तत्त्व एक मेरे आत्मा से ही संबंधित हैं। इसलिये ही जिनवाणी में इन तत्त्वों को आत्मा की मुख्यता से ‘हेय-ज्ञेय-उपादेय’ इसप्रकार तीन समूहों में बाँटा है। जैसे जीव और अजीव तो दोनों ज्ञेय तत्त्व हैं, वे आत्मा के ज्ञान में तो अवश्य आवेंगे। लेकिन वे मात्र जान लेने योग्य तत्त्व हैं। आस्रव और बंध तो हेय तत्त्व हैं, पुण्य और पाप भी

इन्हीं में गर्भित हैं। ये सब तो आत्मा की पर्याय होते हुए भी अभाव करने योग्य ही हैं तथा संवर और निर्जरा दोनों तत्त्व भी आत्मा की ही पर्यायें हैं लेकिन वे प्रगट करने के लिए कथंचित् उपादेय हैं। मोक्ष तत्त्व भी आत्मा की ही पर्याय है; लेकिन पूर्णशुद्ध होने के कारण प्रगट करने के लिए पूर्ण उपादेय है। वास्तव में पर्याय तो अनित्य स्वभावी होने से ध्येय नहीं है।

ध्येय तो एकमात्र त्रैकालिक नित्य स्वभावी, अविनाशी, त्रैकालिक, पर एवं पर्यायों से भिन्न, अकर्ता-ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व अर्थात् जीवतत्त्व है। क्योंकि सिद्धभगवान बनना ही मेरा ध्येय है। सिद्धभगवान की पर्याय ने भी, त्रिकाली ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व का आश्रय किया, इससे ही वह भी पवित्र हुई है। इसलिए मेरा जीवतत्त्व तो ज्ञेय भी है और ध्येय भी है। उस ही का आश्रय करने से अर्थात् अनुसरण करने से मेरा भी आत्मा पवित्रता को प्राप्त हो सकता है। इसलिये परम उपादेय भी वही है।

अजीव तत्त्व तो न तो हेय ही है और न उपादेय ही और अचेतन होने से किसी भी प्रकार से ध्येय तो हो ही नहीं सकता। उनका भी अस्तित्व है इसलिये वे तो मात्र उपेक्षित रूप से जान लेने योग्य हैं। उनसे किंचित मात्र भी संबंध बनाया तो वे मात्र राग-द्वेष आस्रव-बंध के उत्पादक बन जावेंगे। इसलिये उनको तो माध्यस्थभाव से मात्र उपेक्षित रूप से जान लेने योग्य ही हैं।

इसप्रकार सातों अथवा नवों तत्त्वों में अकर्ता ज्ञायकस्वभावी आत्मा “मैं” हूँ; यही तो समझना है। इसलिये तत्त्व निर्णय रूप अभ्यास का अर्थ अपने त्रैकालिक अकर्ताज्ञायकस्वभावी आत्मा को समझना ही है।

समयसार की गाथा १५५ की टीका में भी इस विषय का समर्थन इसप्रकार किया है :—

टीका :— “मोक्ष का कारण वास्तव में सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र

है। उसमें, सम्यक्दर्शन तो जीवादि पदार्थों के श्रद्धानस्वभावरूप ज्ञान का होना परिणमन करना है, जीवादि पदार्थों के ज्ञान स्वभावरूप ज्ञान का होना-परिणमन करना ज्ञान है, रागादि के त्यागस्वभावरूप ज्ञान का होना-परिणमन करना सो चारित्र है। अतः इसप्रकार सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों एक ज्ञान का ही भवन - परिणमन है। इसलिये ज्ञान ही परमार्थ (वास्तविक) मोक्ष का कारण है।”

इसप्रकार सभी तत्त्वों में सारभूत तो एक अपने त्रिकाली ज्ञायक स्वभावी आत्मा को अस्तिरूप से 'अहं रूप' जानना और पहिचानना है। बाकी सभी तत्त्वों की मेरे ज्ञायक स्वभावी आत्मा में नास्ति है; इसलिये वे पर हैं। अतः ऐसी श्रद्धा जाग्रत करना ही यथार्थ तत्त्व निर्णय है और यही तत्त्व निर्णय करने का अभिप्राय है तथा यही आत्मा को करने योग्य यर्थाथ पुरुषार्थ है। समस्त जिनवाणी इस एक की सिद्धि करने का उपाय ही बताती है। अर्थात् समस्त जिनवाणी का सार एकमात्र यही है। इसलिये उपरोक्त निर्णय पर पहुँचने के लिये जिनवाणी के अध्ययन द्वारा तत्त्व निर्णय करने की प्रेरणा देते हुए पं. टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक द्वारा तत्त्व निर्णय पर ही विशेष बल दिया है।

जिनवाणी में आत्मा को कर्ता भी कहा है, वह कैसे ?

आत्मा का स्वभाव तो ज्ञायक-अकर्ता ही है। अतः वास्तव में तो आत्मा अपने स्वभाव को ही करने वाला है अर्थात् करता है। लेकिन विकारी पर्याय भी, इस आत्मा की ही तो हैं। अतः इन पर्यायों को भी करने वाला अन्य तो कोई हो नहीं सकता। इसलिये आत्मा की ही पर्यायें होने से इनका भी कर्ता आत्मा को व्यवहार से कहा गया है। ये विकारी पर्यायें स्वाभाविक नहीं होने से, तथा इस विकार का जन्म ही अज्ञानदशा अर्थात् मिथ्या मान्यता रहने तक ही होता है, इन्हीं सब कारणों से इनका कर्तापना व्यवहार से है। इस अपेक्षा जिनवाणी का आत्मा को रागादि का भी व्यवहार में कर्ता कहना परमसत्य है और हमारी आत्मा की शुद्धि

के लिये प्रयोजनभूत भी है। ऐसा ही निम्न कथनों से सिद्ध होता है।

पंचास्तिकाय गाथा ६२ की टीका में भावार्थ में कहा भी है कि—

“इसप्रकार पुद्गल को कर्मोदयादिरूप से या कर्मबंधादिरूप से परिणमित होने की क्रिया में वास्तव में पुद्गल ही स्वयमेव छह कारक रूप से वर्तता है, इसलिये उसे अन्य कारको की अपेक्षा नहीं है। तथा जीव की औदयिकादिभाव रूप से परिणमित होने की क्रिया में वास्तव में जीव स्वयं ही छहकारक रूप से वर्तता है, इसलिये उसे अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं है। पुद्गलिक क्रिया में वर्तते हुए पुद्गल के छह कारक जीवकारकों से बिल्कुल भिन्न और निरपेक्ष हैं तथा जीवभावरूप क्रिया में वर्तते हुए जीव के छह कारक पुद्गल कारकों से बिल्कुल भिन्न और निरपेक्ष हैं। वास्तव में किसी द्रव्य के कारकों को किसी अन्य द्रव्य के कारकों की अपेक्षा नहीं होती।”

इसीप्रकार प्रवचनसार की गाथा १८९ की टीका में भी अपने विकारी भाव का जीव निश्चय से कर्ता निम्नप्रकार बताया है :—

“रागादि परिणाम ही आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पाप रूप द्वैत है, आत्मा राग परिणाम का ही कर्ता है, उसी का ग्रहण करने वाला है और उसी का त्याग करने वाला है— यह शुद्ध द्रव्य निरूपणस्वरूप निश्चयनय है।”

उपरोक्त सभी कारणों से आगम में इन विकारी भावों को आत्मा के ही “भावकर्म” कहा जाता है। कर्मशब्द का अर्थ ही होता है कार्य, ये आत्मा के ही अपनी पर्याय में किये हुए भाव हैं। अतः इनको आत्मा के ही भावकर्म कहा गया है।

आत्मा त्रिकाली अस्तित्व वाला पदार्थ है तो त्रिकाली अस्तित्व रखने वाला जो ज्ञायक भाव है, वह ही आत्मा का स्वाभाविक भाव है। इसलिये आत्मा उसका कर्ता तो निश्चय से अर्थात् वास्तव में है। लेकिन

पर्याय का अस्तित्व तो मात्र एक समयवर्ती होने से ये पर्यायगत भाव भी क्षणिक एक समयवर्ती होने से इनका कर्ता वास्तव में आत्मा नहीं होने पर भी, वे आत्मा की ही पर्यायें होने के कारण इनका कर्ता आत्मा को कहना व्यवहार मात्र ही है। आत्मा तो वास्तव में अपने त्रिकाली भाव का ही कर्ता है और इस अपेक्षा पर्यायगत भावों का भी अकर्ता ही है।

रागादि उत्पन्न कैसे होते हैं

प्रश्न महत्वपूर्ण इसलिये है कि जब आत्मा ज्ञायक स्वभावी है तो उसमें रागादि उत्पन्न कैसे हो जाते हैं ?

समाधान :— संक्षेप में समाधान तो यह है कि वास्तव में ज्ञायक स्वभावी आत्मा, अगर अपने स्वभाविक परिणमन करता रहे तो, रागादि उत्पन्न होने का अवकाश ही नहीं रहता। जिसका प्रमाण अरहंत भगवान एवं सिद्ध भगवान की आत्मा है। उनकी आत्मा स्वाभाविक परिणमन कर रही है तो उनकी आत्मा में रागादि उत्पन्न नहीं होते। इसलिये निष्कर्ष यह है कि आत्मा में रागदि की उत्पत्ति का मूल कारण आत्मा के ज्ञान का अस्वाभाविक परिणमन ही है। वह निम्न प्रकार :—

वास्तव में आत्मा तो ज्ञानस्वभावी है और ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक अर्थात् स्व एवं पर को जानने का है। जगत का हर एक द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में परिणमन करता ही रहता है। अतः आत्मा भी जानने रूप कार्य को अनवरत रूप से निरंतर करता ही रहता है।

लेकिन जब यह आत्मा पर को जानने की रुचि होने से अपने आपको नहीं जानते हुए मात्र पर को जानता रहता है तब अकेला पर ही उसके ज्ञान में ज्ञात होता है। यह ज्ञान की स्वभावभूत क्रिया नहीं है। लेकिन श्रद्धा गुण का कार्य है कि जिस को भी ज्ञान गुण स्व जानते हुए उपस्थित करता है, उस ही में आत्मा अपनेपन की श्रद्धा कर लेता है। तब रुचि और ज्ञान का विषय मात्र पर ही रह जाने से आत्मा के सभी गुण उस ओर कार्यशील हो जाते हैं। फलतः उस ओर आत्मा कुछ करने अथवा

सुख प्राप्त करने की चेष्टा करता है। लेकिन पर वस्तु तो अपने आधीन नहीं होने से पुण्य योग से सफल हो जाता है तो राग करने लगता है और पाप के उदय में असफल होने पर द्वेष करने लग जाता है।

यही इस ज्ञायकअकर्ता स्वभावी आत्मा को रागादि उत्पन्न होने का असली कारण है। अन्य कोई कर्म “नो” कर्म आदि का कारण कहना तो निमित्त की मुख्यता से किये गये कथन हैं। निम्न आगम प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है।

इस प्रश्न का समाधान समयसार गाथा ३७०-३७१ की टीका के अंत में स्वयं प्रश्न उठाकर आचार्य श्री ने उत्तर दिया है, वह निम्नप्रकार है—

प्रश्न :— तब फिर राग की खान (उत्पत्ति स्थान) कौन-सी है ?

उत्तर :— राग-द्वेष मोहादि, जीव के अज्ञानमय परिणाम हैं अर्थात् जीव का अज्ञान ही रागादि को उत्पन्न करने की खान है, इसलिये वे राग-द्वेष-मोहादिक विषयों में नहीं हैं, क्योंकि विषय परद्रव्य है और वे सम्यग्दृष्टि में भी नहीं है, क्योंकि उनके अज्ञान का अभाव है।

प्रश्न होता है कि यह अज्ञान क्यों उत्पन्न होता है ?

इसके स्पष्टीकरणरूप उक्त ग्रंथ की गाथा ३४४ की टीका में आचार्य श्री ने निम्नानुसार कहा है :—

“इसलिये ज्ञायकभाव सामान्य-अपेक्षा ज्ञानस्वरूप से अवस्थित होने पर भी, कर्म से उत्पन्न होते हुए मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय, अनादिकाल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य होने से, पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ वह ज्ञायकभाव विशेष-अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञान परिणाम को करता है। अज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणामन उसको करता है।”

इसी का समर्थन कलश १६४ में निम्नप्रकार किया है :—

“श्लोकार्थः— कर्मबंध को करनेवाला कारण न तो बहुकर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ लोक है नचलन स्वरूप कर्म (अर्थात् मन-वचन - काय रूप) योग है। अनेक प्रकार के करण है और न चेतन- अचेतन का घात है। किन्तु “उपयोगभू” (उपयोगरूपी भूमि) अर्थात् आत्मा रागादि के साथ जो ऐक्य को प्राप्त होता है (वही एकमात्र) रागादिक के साथ एकत्व प्राप्त करना, वही वास्तव में पुरुषों के बंध का कारण है।”

उपरोक्त कथनों से भी यह स्पष्ट होता है कि आत्मा ज्ञायकस्वभावी है। स्वतंत्रापूर्वक अपनी ज्ञानपर्याय को करता है, लेकिन कर्मोदय को जानते ही उनमें एकत्व मानकर, अज्ञानी होकर स्वयं ही रागादि उत्पन्न कर लेता है। कलश १६७ की टीका में भी यही कहा है :—

टीका :— वास्तव में अज्ञानमयभाव में से जो कोई भी भाव होता है वह सब ही अज्ञानमयता का उल्लंघन न करता हुआ अज्ञानमय, ही होता है, इसीलिये अज्ञानियों के सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं और ज्ञानमयभाव में से जो कोई भी भाव होता है, वह सब ही ज्ञानमयता का उल्लंघन न करता हुआ ज्ञानमय ही होता है, इसलिये ज्ञानियों के सब ही भाव ज्ञानमय होते हैं।”

उपरोक्त कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा की रागादि विकारी पर्याय का उत्पादक अन्य कोई नहीं है। आत्मा का मात्र अज्ञान भाव है। लेकिन वह अज्ञान भाव, आत्मा की पर्याय में ही है, अर्थात् क्षणिक और अनित्य है। इसलिये उसका नाश करना भी असंभव और कठिन नहीं है। यह आत्मा जब भी अपनी अज्ञानता को दूर कर देगा, उसी क्षण विकार का अभाव भी हो जावेगा।

इसप्रकार मोक्षमार्ग प्रगट करना अत्यन्त सरल और करने योग्य कार्य है और संक्षेप में सारभूत मार्ग भी यही है। और समस्त द्वादशांग का सार भी यही मात्र करने योग्य मार्ग है।

आत्मा को रागादि का कर्ता ही नहीं माना जावे तो क्या हानि ?

इससे तो आत्मा को भयंकर हानि उत्पन्न हो जाने का मार्ग प्रशस्त हो जावेगा, एवं जिनवाणी के कथनों का दुरुपयोग करने वाला, जिनवाणी का द्वेषी सिद्ध होगा। समयसार कलश २०४ में निम्नप्रकार से कहा है कि :—

श्लोकार्थः :— “यह आर्हत मत के अनुयायी अर्थात् जैन भी आत्मा को, सांख्यमतियों की भाँति, सर्वथा अकर्ता मत मानो, भेदज्ञान होने से पूर्व उसे सदा निरन्तर कर्ता मानो, और भेदविज्ञान होने के बाद उद्धत ज्ञानधाम ज्ञानमंदिर, ज्ञानप्रकाश में निश्चित इस स्वयंप्रत्यक्ष आत्मा को कर्तृत्व रहित, अचल, एक परम ज्ञाता ही देखो।”

इसी कलश के भावार्थ में भी कहा है कि :—

“सांख्यमतियों की भाँति जैन आत्मा को सर्वथा अकर्ता न मानें, जब तक स्व-पर का भेदविज्ञान न हो तब तक तो उसे रागादि का-अपने चेतन रूप भावकर्मों का-कर्ता मानो, और भेदविज्ञान होने के बाद शुद्ध विज्ञानघन, समस्त कर्तृत्व के भाव से रहित, एक ज्ञाता ही मानों। इस प्रकार एक ही आत्मा में कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व-ये दोनों भाव विवक्षावश सिद्ध होते हैं। ऐसा स्याद्वाद मत जैनों का है, और वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है, कल्पना नहीं है। ऐसा (स्याद्वादानुसार) मानने से पुरुष को संसार मोक्ष आदि की सिद्धि होती है, और सर्वथा एकान्त मानने से सर्व निश्चय-व्यवहार का लोप होता है।

उपरोक्त प्रकार से आगम में स्पष्ट उल्लेख होने पर भी इसके विपरीत मानने वाला तो आगम का द्रोही ही माना जावेगा।

दूसरी अपेक्षा लौकिक में भी देखा जावे तो, सारे जगत बुरे भावों के करने को बुरा कहता है और अच्छे भाव करने वाले की प्रशंसा करता है। तो क्या जिनवाणी बुरे भाव करने वाले को, उसका करने वाला नहीं मानने को कहेगी। लौकिक में भी तथा सरकार भी हत्या करने वाले को

ही फाँसी की सजा देती है, किसी अन्य को तो नहीं देती। अतः ऐसी मान्यता कि आत्मा; क्रोधादि भाव जो आत्मा के अहित करने वाले बुरे भाव हैं, उनके करने वाले को उसका फल नहीं भोगना पड़े, ऐसा अन्याय कैसे संभव हो सकता है कदापि नहीं हो सकता। अतः जब तक यथार्थ भेदज्ञान होकर आत्मानुभव उत्पन्न नहीं हो, तब तक आत्मा को उन भावों को करने वाला भी मानना, तथा उनके छोड़ने का उपाय भी करते रहना, यही समीचीन मार्ग है।

आत्मा को सिद्ध समान मानना अथवा रागीद्वेषी मानना ?

प्रश्न :— उपरोक्त स्थिति में आत्मा को सिद्ध समान मानना अथवा रागीद्वेषी मानना ? क्योंकि एक ही आत्मा को दो प्रकार का कैसे माना जा सकता है ?

उत्तर :— जब तक सिद्ध दशा प्राप्त नहीं हो, तब तक वर्तमान में अपने को द्रव्यस्वभाव- त्रिकालीस्वभाव की अपेक्षा तो सिद्ध समान ही मानना चाहिए। क्योंकि अगर सिद्धदशा प्रगट करने की सामर्थ्य वाला मेरे द्रव्य को नहीं माना जावेगा, तो सिद्ध दशा प्राप्त करने का पुरुषार्थ ही संभव नहीं होगा। जैसे कोई भी निर्धन व्यक्ति, धनवान बनने के लिये, पहले उसी काम के लिये पुरुषार्थ करता है, जिसमें उसे पूर्ण विश्वास हो कि मैं इस काम के करने में अवश्य सफलता प्राप्त करूँगा। जब तक उसको अपनी सामर्थ्य का पूर्ण विश्वास नहीं होगा, तब तक वह उस कार्य करने का पुरुषार्थ ही प्रारम्भ नहीं करेगा।

उसीप्रकार वर्तमान में विकारी आत्मा को जब तक अपनी इस सामर्थ्य का विश्वास नहीं होगा कि मेरे में अर्थात् मेरे द्रव्य में सिद्ध भगवान बनने की सामर्थ्य है और वर्तमान की क्रोधी, मानी, मायावी आदि दशा तो क्षणिक पर्यायें हैं, वे नाश हो सकती हैं। अतः इनके होते हुए भी, मैं इस दशा को समाप्त करके, सिद्ध भगवान अवश्य बन सकूँगा, क्योंकि मैं तो अविनाशी हूँ। जब तक यह विश्वास जाग्रत नहीं होगा

तब तक यह संसारी जीव पुरुषार्थ ही कैसे व किसलिये करेगा ।

दूसरी अपेक्षा यह भी है कि बिना कोई लक्ष्य उद्देश्य अथवा ध्येय बनाये, कभी भी किसी को भी किसी कार्य में सफलता नहीं मिलती । जैसे फुटबाल अथवा हॉकी आदि खेलों के लिये पूरी की पूरी टीम का ध्येय होता है कि अपने-अपने गोल को बचाना तथा दूसरे पक्ष का लक्ष्य एवं उद्देश्य होता है कि विपक्ष के गोल को परास्त करना । नदी में तैरनेवाले के सामने ध्येय एवं उद्देश्य होता है कि नदी को पार करके किनारे को पकड़ना । उसीप्रकार संसारी जीव का भी एक उद्देश्य होता है, ध्येय होता है कि वर्तमान संसार दशा का अभाव करके पूर्णदशा अर्थात् सिद्ध दशा प्राप्त करना ।

उपरोक्त सभी कारणों से सिद्ध होता है कि इस संसारी आत्मा को वर्तमान में अपनी रागी-द्वेषी आदि विकारी अवस्थावाला मानते हुए भी, अपने को शक्ति व सामर्थ्य की अपेक्षा एवं ध्येय तो सिद्ध से जरा भी कमी वाला नहीं मानना चाहिए । अपनी वर्तमान दशा का अभाव करने के लिए, अपनी सामर्थ्य का विश्वास जाग्रत करते हुए, ध्येय एवं उद्देश्य तो, सिद्ध भगवान से जरा भी नीचा नहीं रखना चाहिए । तभी यह जीव स्वयं सिद्ध बन सकेगा ।

अगर अपने को वर्तमान में विकारी नहीं मानेगा तो मोक्षमार्ग का प्रारंभ ही नहीं होगा और अगर वर्तमान में ही यह विश्वास जाग्रत नहीं हुआ कि मेरी आत्मा ही स्वयं सिद्ध जैसे स्वभाव वाली है, अतः सिद्ध दशा को भी मैं स्वयं ही अवश्य प्राप्त कर लूंगा । ऐसा उद्देश्य और ध्येय बनाने पर ही पुरुषार्थ प्रारंभ हो सकेगा ।

अतः वर्तमान में ही अपने आत्मा को सामर्थ्य एवं ध्येय की अपेक्षा से तो सिद्ध जैसा ही मानना योग्य है और पर्याय में वर्तमान में तो आत्मा को विकारी स्वीकार करते हुए, स्वभाव के आश्रय से अर्थात् उस ही के आश्रय से उसके समान बनने का पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए । यही द्वादशांग का सार है ।

